राष्ट्रीय प्रगति के कुछ अनिवार्य मापदंड

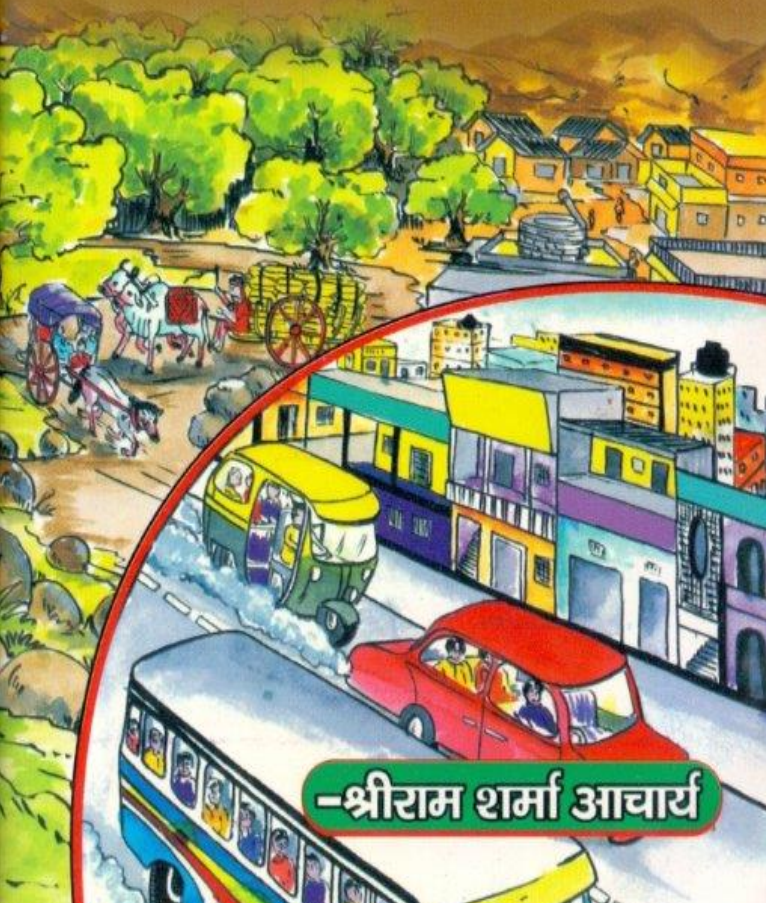

-श्रीराम शर्मा आचार्य

राष्ट्रीय प्रगति के कुछ अनिवार्य मापदंड

लेखक :
पं० श्री राम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०१० मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

☼

लेखक :
पं० श्री राम शर्मा आचार्य

☼

पुनर्मुद्रित सन् २०१०

☼

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

प्रगति के जोश में अवगति की ओर न बढ़ें

विश्व की आबादी तीव्रगति से बढ़ रही है। यह बढ़ोत्तरी उसी अनुपात में जीवन यापन के साधनों की माँग करती है। आवश्यकता और उसकी पूर्ति का संतुलन न बन पाने से असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है जो विविध प्रकार की समस्याओं को जन्म देती है। साधन सीमित और माँग अधिक। ऐसे में यह जरूरी है कि उत्पादन बढ़ाकर बढ़ी हुई माँग की पूर्ति की जाय। उत्पादन बढ़ाने के तरीके क्या हों? दोहन या सुनियोजन, यह प्रश्न स्थाई हल चाहता है। एक तरीका तो यह हो सकता है कि पृथ्वी को कृत्रिम रासायनिक खादों की शराब पिलाकर उसका अधिकाधिक दोहन कर लिया जाए और कुछ समय बाद उसे बंजर स्थिति में पहुँचा दिया जाए, दूसरा तरीका यह है कि उन निरापद संकटों से रहित उर्वरकों का अधिक परिमाण में प्रयोग करके उत्पादन में वृद्धि की जाए। साथ ही निरर्थक पड़ी लाखों एकड़ भूमि में थोड़ा सुधार करके खेती के काम में लाया जाए। हर विचारशील व्यक्ति दूसरे सुझाव का ही समर्थन करेगा। कारण यह है कि कृत्रिम खादों के प्रयोग से तत्काल उत्पादन तो बढ़ जाता है पर दूरगामी परिणामों की दृष्टि से वह अदूरदर्शी प्रयत्न अत्यंत हानिकारक है। कृषि विशारदों के नवीनतम निष्कर्ष बताते हैं कि पृथ्वी अपनी उर्वराशक्ति रासायनिक खादों के प्रयोग से तीव्रगति से खोती जा रही है तथा सारे विश्व में इस अंधाधुंध प्रयास से बंजर भूमि का विस्तार होता जा रहा है।

अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ० माइकेल मैकलोरी हारवर्ड विश्व विद्यालय में प्रोफसर हैं, उन्होंने पेरिस में हुई एक पर्यावरण संगोष्ठी में चेतावनी देते हुए कहा कि वायुमंडल की महत्त्वपूर्ण परत स्ट्रेटोस्फीयर जो पृथ्वी को अल्ट्रावायलेट रेडिएशन के दुष्प्रभाव से बचाती है तीव्र गति से निरंतर कमजोर पड़ती जा रही है। ऐसी संभावना है कि ओजोन परत की दस प्रतिशत क्षमता इस सदी के अंत तक नष्ट हो जाएगी। इसका कारण प्रो० माईकेल ने रासायनिक खादों से होने वाले विषाक्त प्रदूषण को बताया तथा संभावना व्यक्त की है कि इस रक्षा कवच के कमजोर पड़ जाने से अंतरिक्षीय हानिकारक विकिरणों से पृथ्वी अपनी रक्षा कर पाने में अक्षम सिद्ध होगी, जिसका पहला प्रभाव वृक्ष वनस्पतियों के अंकुरण और विकास पर पड़ेगा। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति भी इस घातक रेडियेशन से प्रभावित होगी और अपनी उत्पादक क्षमता गँवा देगी।

वैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि रासायानिक कृत्रिम खादों की अंतिम परिणति गैसीय अवस्था में नाइट्रोजन ऑक्साइड के रूप में होती है जो वायुमंडल की ओजोन परत को नष्ट करती है। आज संपूर्ण विश्व में नाइट्रोजन युक्त विभिन्न रासायनिक खादों की खपत पाँच करोड़ टन है। ऐसा अनुमान है कि सन् २००० तक यह खपत बढ़कर २० करोड़ टन तक हो जाएगी। इस आश्चर्यजनक तथ्य का रहस्योद्घाटन किया है कनाडा के एक वैज्ञानिक मैरिक एलिस ने। उनका कहना है कि—इकॉलाजिक चक्र के कितने ही पदार्थ घटक हैं। उनका उपयोग खादों में किया जाना संकटों से रहित है तथा पृथ्वी की उर्वरता को भी स्थाई रूप से बढ़ाते हैं। उदाहरणार्थ पशुओं के गोबर, मलमूत्र एवं पत्ते कचड़े से बनी खाद के प्रयोग से किसी प्रकार का खतरा नहीं है। अपने प्रतिपादन के समर्थन में वे कहते हैं कि आदिकाल से ही कृषि कार्य में इन खादों का उपयोग होता रहा है पर कभी भी इस प्रकार के संकट का सामना नहीं करना पड़ा जैसा

कि वर्तमान समय में प्रस्तुत हुआ है। ओजोन लेयर के क्षतिग्रस्त होने से न केवल पृथ्वी की उर्वरता नष्ट होगी वरन प्राणियों का जीवन भी खतरे में पड़ जाएगा।

फसलों की कीड़ों से सुरक्षा के लिए जिन जीव नाशक दवाइयों का प्रयोग धड़ल्ले से किया जा रहा है वे कितने ही संकटों को लेकर प्रस्तुत हुई हैं। अपने देश में ४४ प्रकार की मारक औषधियों की लगभग ८० हजार टन मात्रा प्रतिवर्ष प्रयोग होती है। जीव नाशी मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—एक आर्गनोक्लोरीन और दूसरा आर्गेनो फास्फोरस। आर्गनोक्लोरीन कीटनाशी जल में अघुलनशील तथा वसा में घुलने वाले होते हैं। इस वर्ग में डी०डी०टी, बी०एच०सी० ऐन्ड्रिन, ऐल्ड्रिन, डाईऐल्ड्रिन और एन्डोस्ल्फान आदि आती हैं। उनका छिड़काव कीड़े से फसलों की रक्षा के लिए देश के कोने-कोने में किया जाता है।

इनमें से अधिकांश का विघटन शीघ्रता से नहीं हो पाता है और वे ठोस रूप में विद्यमान रहकर पौधों की कीड़ों से रक्षा करते हैं। वसा में घुलनशील होने के कारण खाद्यान्नों में अवशोषित होकर आहार के माध्यम से मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के शरीर में पहुँचकर शरीरगत वसा में एकत्रित होते रहते हैं। इनका निष्कासन शरीर से आसानी से नहीं हो पाता। संचित रहने पर ये रक्ताल्पता तथा अनेकों प्रकार के उदर रोगों को जन्म देते हैं। इनसे यकृत को क्षति पहुँचने का भय बना रहता है। आर्गेनो फास्फोरस ग्रुप के यौगिक अधिक समय तक तो प्रभावकारी नहीं रहते पर जितनी देर रहते हैं अधिक विषाक्त प्रभाव छोड़ते हैं।

एक आँकड़े के अनुसार अपने देश में कीड़ों से सुरक्षा के लिए डी०टी०टी० का छिड़काव इतना अधिक हुआ है कि उसका दीर्घकालीन प्रभाव अभी भी बना हुआ है। अनुमान है प्रत्येक भारतीय के आहार में २७ मि०ग्रा० डी०डी०टी० की मात्रा घुली मिली है। एक शोध निष्कर्ष में कहा गया है कि एक भारतीय के

शरीर में डी०डी०टी० जैसे भयानक रसायन की मात्रा लगभग १३ से ३१ पी०पी०एम० (पी०पी०एम०, डी०डी०टी० की विषाक्तता नापने की इकाई) तक है, जो कि अन्य देशों में १.८ से लेकर अधिकतम १९.२पी०पी०एम० तक है। आस्ट्रेलिया में यह औसत प्रति व्यक्ति १.८, पश्चिम जर्मनी में २.३, इंग्लैंड में ३.३, कनाडा में ४.८, डेनमार्क में ३.३, इटली में ५, हंगरी में १२.४, फ्रांस में ५.२, इजरायल में १९.२ पी०पी०एम० है।

कीटनाशी दवाओं का छिड़काव मात्र स्वास्थ्य के लिए ही हानिकारक नहीं है, वह समस्त इकॉलाजिकल चक्र को भी नष्ट करता है। प्रकृति अपनी स्वसंचालित व्यवस्था द्वारा जीवधारियों को पैदा करती है और मारती है, सृजन और ध्वंश की उस दुहरी प्रक्रिया में अनावश्यक रूप से मानवी हस्तक्षेप अनुचित है। कितनी बार तो इससे ऐसे व्यतिरेक उठ खड़े होते हैं जिनका हल निकाल पाना मनुष्य के बलबूते संभव नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ वोनियों नामक प्रदेश में जो अमेरिका में स्थित है, मच्छरों के उपद्रव को दूर करने के लिए डी०डी०टी० का भारी परिमाण में छिड़काव किया गया तो स्थानीय जन समुदाय को एक दुस्तर समस्या का सामना करना पड़ा।

डी०डी०टी० के छिड़काव से एक विशिष्ट प्रकार के कीड़े कैटर-पीलर का उपद्रव बढ़ गया। सामान्यत: वे कीड़े बर्रों का आहार होते हैं जो कि डी०डी०टी० के विषाक्त प्रभाव से मर गए। इन कीड़ों को अपनी वंश वृद्धि असामान्य रूप से करने का सुअवसर मिला। मारक दवाओं की चपेट में मक्खियाँ भी आईं। मक्खियों के मर जाने से छिपकलियों का आहार स्रोत कम पड़ गया। छिपकलियों को बिल्लियाँ खाने लगीं पर उनकी विषाक्ता के कारण शीघ्र ही दम तोड़ने लगीं। बिल्लियों के मर जाने के कारण चूहों की संख्या बढ़ने लगी। वे इतनी अधिक तादाद में हो गए कि स्थानीय क्षेत्र में भारी तबाही मचाने लगे। अंतत: स्थिति विस्फोटक होते देखकर अमेरिका

सरकार द्वारा अधिक संख्या में चूहों की नस्ल समाप्त करने के लिए बाहर से बिल्लियों का आयात करना पड़ा। तब कहीं जाकर स्थिति पर नियंत्रण कर पाना संभव हो सका।

इसी प्रकार की परिस्थितियों का सामना एक बार मलेशिया में करना पड़ा, वहाँ एक प्रकार के नशीले पदार्थ कोको की खेती आरंभ की गई। इन फसलों में कीड़े लग गए। उन्हें मारने के लिए एक विशिष्ट तरह की कीटनाशी दवा का प्रयोग किया गया। दवा के छिड़काव के तुरंत बाद आश्चर्यजनक परिवर्तन यह देखा गया कि विषैले कीड़ों की कितनी ही ऐसी प्रजातियाँ पैदा हो गईं जो वहाँ पहले कभी नहीं देखी गई थीं। अंततः वेग वर्म नामक एक ऐसा हानिकारक कीड़ा पैदा हुआ जो किसी भी दवा से नहीं मरता था। उसे मारने के लिए विषैली दवाओं की सांद्रता अत्यधिक बढ़ा दी गई। परिणाम यह हुआ कि कीड़े तो नहीं मरे, उल्टे पौधे अवश्य विषैले हो गए। संयोगवश वर्रों का विशाल झुंड वहाँ पहुँच गया तथा उन हानिकारक कीड़ों को खाने लगा। आसन्न पौधों पर संकट तब कहीं जाकर दूर हुआ।

प्रचलित मान्यता यह है कि मिट्टी निर्जीव है और उसमें जो कीड़े पाए जाते हैं वे फसलों को क्षति ही पहुँचाते हैं। अंशतः तो यह बात सही है, पर कृषि विज्ञान के नवीनतम शोध निष्कर्षों के अनुसार हानि पहुँचाने वाले कीड़े-मकोड़ों की अपेक्षा मिट्टी में उन कीड़ों की अधिकता होती है जो फसलों के लिए लाभकारी हैं तथा मिट्टी को उर्वरा बनाते हैं। वीटल्स टरमाइट, कीटर्स आदि विभिन्न प्रकार के कीड़े कृषि कार्य में असाधारण सहयोग करते हैं। कृषि कार्य में प्रयोग की जाने वाली आधुनिक मारक दवाएँ इन कीड़ों को लाभकारी तथा हानिकारक में बिना भेदभाव किए हुए नष्ट कर डालती हैं। फलस्वरूप कृषि में सहयोग देने वाले उपयोगी कीड़े-मकोड़ों के अमूल्य योगदान से भी वंचित रह जाना पड़ता है। यह हानि इतनी बड़ी है कि जिसकी आपूर्ति अन्य किसी भी कृत्रिम तरीके से नहीं हो सकती।

'दी साइलेंट स्प्रिंग' नामक पुस्तक के लेखक रिचार्ड कास्टसन इकॉलाजी शास्त्र के प्रख्यात विद्वान हैं। पुस्तक में वे लिखते हैं कि दवाओं के छिड़काव से नन्हें कीड़े-मकोड़ों की सृष्टि तेजी से विलुप्त हो रही है। फलस्वरूप उन पर निर्भर रहने वाले पक्षियों का अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया है। कितने ही ऐसे पक्षी जिनका वनस्पतियों फूलों के परागण में परोक्ष किंतु महत्त्वपूर्ण योगदान है, पक्षियों के नष्ट होने से वनस्पतियों का जीवन भी संकट में पड़ सकता है।

उल्लेखनीय है कि जो देश जितने पिछड़े हैं उन्होंने ही अधिक विषैले रसायनों का प्रयोग किया है। फलस्वरूप उसी अनुपात में वह विष मानवी शरीर में घुलता-मिलता गया है तथा कितने ही शारीरिक एवं मानसिक रोगों को जन्म दे रहा है। बौद्धिक पिछड़ेपन एवं अशिक्षा के कारण पिछड़े देशों के कृषक उतने जागरूक भी नहीं हैं कि मारक औषधियों के दूरगामी दुष्परिणामों से सतर्क हो सकें।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है, पशु पालन को कृषि का सदा से अभिन्न अंग समझा जाता रहा है। पशुओं के बहुमुखी उपयोग के कारण उन्हें भौतिक समृद्धि में अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक माना जाता रहा है। उनके दूध, श्रम जैसे अनुदानों के अतिरिक्त प्राप्त होने वाले गोबर की खाद खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने में विशेष रूप से सहायक रही है। पशु पालन को पुनः प्रश्रय मिलना चाहिए। कृत्रिम खादों एवं मारक रसायनों के उपयोग से आसन्न स्वास्थ्य विभीषिकाओं तथा प्रस्तुत होने वाले प्रकृति असंतुलनों से रोक-थाम तभी संभव है। उत्पादन बढ़ाने के लिए मल, कचरे, कूड़ा-करकट का सुनियोजन भी आवश्यक है। निरर्थक समझी जाने वाली वस्तुओं के सदुपयोग की परंपरा चल पड़े तथा निरर्थक बेकार पड़ी भूमि के उपयोग की व्यवस्था बन सके तो खाद्यान्न संकट का हल संभव है। खाद्यान्न हमारी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

जीवन यापन की वस्तुओं में खाद्यान्नों का स्थान प्रथम माना जाता है। वस्त्र और आवास की सुविधा न रहने पर भी किसी तरह काम चलाया जा सकता है पर अन्न के बिना तो जीवित रहना कठिन है। उत्पादन बढ़ाने में सबसे पहले उन वस्तुओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए जिनके अभाव में जीवन मरण की स्थिति पैदा हो सकती है। साधन और सामर्थ्य ऐसे उत्पादन में नियोजित रहें जिनसे नकद मुद्रा की तो आय हो जाती है, पर वे मनुष्य जाति के लिए अनुपयोगी और हानिकारक हैं तो इस नीति से उपयोगी वस्तुओं की कमी पड़ती जाएगी। उदाहरणार्थ खाद्यान्न के क्षेत्र में आज भी अपना देश पूर्णरूप से स्वावलंबी नहीं हो सका है। आधुनिक तकनीकी साधनों की पहुँच ग्रामीण क्षेत्र में सर्वत्र न होने से कृषि में उत्पादन बढ़ने का अनुपात अन्य देशों से कम है। उपलब्ध भूमि कृषि के लिए कम पड़ रही है। इन परिस्थितियों में अन्न उत्पादन की उपेक्षा करके कृषि योग्य भूमि का एक बहुत बड़ा भाग तम्बाकू जैसे हानिकारक विष के उत्पादन में नियोजित करना निस्संदेह अदूरदर्शिता का ही परिचायक है।

दुर्भाग्यवश नकद आमदनी की मात्रा अधिक मिलने से तंबाकू उत्पादन के लिए सरकार भी प्रोत्साहन दे रही है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार भारत में तंबाकू की पैदावार विश्व के तंबाकू उत्पादन का कुल आठ प्रतिशत होती है। तंबाकू की खेती करने वाले विश्व के देशों में भारत का स्थान तीसरा है। सन् १९७८ में ७४५ हजार हेक्टेयर कृषि योग्य उर्वरा भूमि का प्रयोग तंबाकू की खेती के लिए किया गया। जिसमें कुल ८१ हजार ६ सौ ४८ मीट्रिक टन तंबाकू का उत्पादन हुआ। अनुमान है कि पूरे भारत में अब साढ़े चार हजार हेक्टेयर जमीन में तंबाकू बोई जाती है जिसमें प्रतिवर्ष लगभग पाँच लाख टन तंबाकू पैदा होती है जिसमें से तीन चौथाई भाग की खपत यहीं हो जाती है। तंबाकू उद्योग से प्राप्त एक रिपोर्ट के अनुसार अपने देश में १७ करोड़ सिगरेटों तथा ४४ करोड़ बीड़ियों का

उत्पादन प्रतिदिन होता है। लगभग ७० करोड़ रुपए मासिक की सिगरेटें प्रति माह अपने यहाँ बनती हैं।

उल्लेखनीय है कि तंबाकू उत्पादन के लिए प्रयोग की जाने वाली भूमि की हालत अंततः वैसी ही हो जाती है जैसी कि कैंसर से ग्रस्त व्यक्ति की। कृषि विशारदों का मत है कि लगातार दस वर्ष तक किसी भूमि पर तंबाकू की खेती की जाए तो वह इस योग्य नहीं रहती कि पुनः उसे अन्न उत्पादन के लिए प्रयुक्त किया जा सके। उसकी उर्वर क्षमता बिलकुल ही नष्ट हो जाती है। इस तरह तात्कालिक लाभ के लालच में अंततः दोहरी क्षति उठानी पड़ती है। उर्वरा भूमि तंबाकू उत्पादन में प्रयुक्त हो जाने से उससे होने वाले खाद्यान्न उत्पादन से वंचित रहना पड़ता है। साथ ही भूमि की रुग्णता एक अतिरिक्त संकट के रूप में जुड़ जाती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'वर्ल्ड हैल्थ' ने एक चौंकाने वाला तथ्य प्रकाशित किया है कि तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में तंबाकू उत्पादक स्थान अपने देशों के सूखे किनारों पर स्थित हैं जो निकटवर्ती कृषि योग्य अन्य भूमि को भी अपनी विषाक्तता से प्रभावित कर रहे हैं। रेगिस्तानी क्षेत्र की बढ़ोत्तरी में तंबाकू उत्पादक स्थान विशेष रूप से सहायक है। शुष्क स्थानों पर ही तंबाकू की फसल अच्छी होती है। इसके लिए जंगली इलाके अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। पैसे के लोभ में हरे-भरे वृक्षों से युक्त जंगलों को सफाया करने की भी परंपरा चल पड़ी है ताकि उस स्थान से अच्छी-अच्छी किस्म की तंबाकू उगाई जा सके।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (१९८१) के अनुसार ३ लाख ६३ हजार टन तंबाकू के उत्पादन के लिए भारत में मात्र एक वर्ष में १२ लाख ८६ हजार एकड़ भूमि में विद्यमान जंगलों को वृक्ष विहीन कर दिया गया। खेत से काटी गई तंबाकू की कच्ची पत्तियों को भी कड़क सुखाने के लिए वृक्षों से ईंधन की आवश्यकता पड़ती है। विशेषज्ञों का मत है कि १००० सिगरेटों के तंबाकू को पकाने के लिए

लगभग १०० टन लकड़ी की जरूरत पड़ती है। सौ टन लकड़ी औसतन दो पेड़ों से प्राप्त होती। प्रतिदिन भारत में १७ करोड़ सिगरेटें तथा ४४ करोड़ बीड़ियाँ बनती हैं। ५०० बीड़ी अथवा सिगरेटों के तंबाकू को पकाने मे एक वृक्ष जला दिया जाता है। इस हिसाब से १० करोड़ सिगरेटों तथा ४५ करोड़ बीड़ियों को बनाने में १२ लाख २० हजार पेड़ों के ईंधन की जरूरत होगी। इस प्रकार एक वर्ष में जितने सिगरेटों तथा बीड़ियों का उत्पादन होगा, उनके लिए ४३ करोड़ ९२ लाख वृक्षों के ईंधन की आवश्यकता होगी अर्थात मात्र बीड़ी और सिगरेट जैसे हानिकारक वस्तुओं के लिए प्रतिवर्ष ३३ करोड़ ६२ लाख वृक्षों को नष्ट कर दिया जाता है। लगभग एक वृक्ष में कुल लकड़ी पचास टन के बराबर होती है। भार के रूप में क्षति जोड़ी जाए तो एक दिन में वह ६ करोड़ १० लाख टन होगी।

वैज्ञानिकों ने विगत दिनों हुए शोध के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रकृति संपदाओं में सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु वृक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही तरह के उससे लाभ हैं। प्रत्यक्ष की तुलना में परोक्ष लाभों की कीमत कई गुनी अधिक है। मोटा निष्कर्ष विशेषज्ञों ने यह निकाला है कि एक वृक्ष अपने पचास वर्ष के जीवन काल में ऑक्सीजन, वातावरण परिशोधन तथा भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में जितना योगदान देता है उसकी कीमत यदि पैसों में लगाई जाए तो लगभग पंद्रह लाख रूपये के बराबर होगी अर्थात एक वृक्ष की परोक्ष सेवाओं की कीमत पंद्रह लाख रुपये के बराबर है। बीड़ियों एवं सिगरेटों के तंबाकू को पकाने में प्रतिदिन जितने वृक्ष कटते हैं उनकी कीमत यदि इस हिसाब से लगाई जाए तो वह १८ अरब ३० खरब रुपये प्रतिदिन के लगभग होगी। वर्ष भर के आंकड़े निकाले जाएँ तो क्षति की राशि ६५ हजार ८८ खरब रुपए तक जा पहुँचेगी।

इसे मनुष्य की अदूरदर्शिता कहना चाहिए कि वह प्रत्यक्ष लाभों को ही महत्त्व देता है। दूरगामी परिणामों पर उसका ध्यान

नहीं जा पाता। प्रत्यक्ष लाभ यह है कि देश को बीड़ी तथा सिगरेट के उत्पादन से प्रतिवर्ष करोड़ों का लाभ होता है पर इससे होने वाली दूरगामी हानियों पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह प्रत्यक्ष लाभ अंततः मँहगा ही पड़ा। वृक्षों की कटाई से जितनी हानि प्रतिवर्ष होती है वह प्रत्यक्ष लाभ की तुलना में सैंकड़ों गुनी अधिक होगी। प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार एक एकड़ तंबाकू को पकाने के लिए एक एकड़ का हरा भरा जंगल जलाकर खाक कर दिया जाता है। ज्ञातव्य है कि वृक्षों में बादलों को आकर्षित करने के साथ-साथ विशिष्ट क्षमता बरसते हुए पानी को अवशोषित करने की होती है। पेड़ों की जड़ों में प्रति एकड़ १०० टन पानी सोखने की सामर्थ्य होती है। वह पानी वृक्ष को हरा भरा रखने के साथ-साथ समीपवर्ती भूमि को भी नमी प्रदान करता है।

तंबाकू उत्पादन के लिए हरीतिमा पृथ्वी की सुषमा की बलि चढ़ाने की अदूरदर्शिता मात्र अपने देश तक ही सीमित नहीं है, तीसरी दुनिया के अनेकों देशों में विद्यमान है। कुछ दशकों पूर्व केन्या की सरकार ने तंबाकू की खेती के लिए वहाँ के किसानों को प्रोत्साहित करना आरंभ किया। सरकार को इससे अधिक विदेशी मुद्रा की प्राप्ति हुई। किसानों को लाभ यह हुआ कि उन्हें कम मेहनत से अधिक धन प्राप्त हुआ। पर उसका दुष्प्रभाव वहाँ यह दिखाई पड़ रहा है कि केन्या का पूर्वी पहाड़ी भाग जहाँ कि पिछले एक दशक से तंबाकू की खेती होती चली आ रही थी अब अपनी उर्वरा क्षमता गँवा बैठा है। स्थानीय पर्यावरण पर भी बुरा प्रभाव पड़ा है। जहाँ कभी नयनाभिराम हरियाली नजर आती थी वहाँ अब उजाड़ जंगल दिखाई पड़ता है। तंबाकू की खेती तथा उसे पकाने में वृक्ष संपदा का एक बड़ा भाग नष्ट हो चुका है। जिन स्थानों पर तंबाकू की खेती की जाती है प्रायः वहाँ ईंधन की लकड़ी का अभाव पड़ जाता है। साथ ही भूमि की उर्वरा क्षमता नष्ट हो जाने से रेगिस्तान के फैलाव की गुंजाइश बढ़ जाती है। नाइजीरिया की

सरकार ने तथा वहाँ के किसानों ने तंबाकू उत्पादन के प्रति कुछ समय पूर्व तक विशेष उत्साह दिखाया था जिसका परिणाम यह निकला है कि नाइजीरिया के पश्चिमी भाग से लेकर पूर्वी भाग तक सर्वत्र तंबाकू की खेती होने लगी। आसन्न संकट की ओर वहाँ के विशेषज्ञों का ध्यान तब गया उन्होंने देखा कि देश की भूमि उर्वरा क्षमता गँवाती जा रही है और रेगिस्तान क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। खोजबीन करने पर विशेषज्ञों ने तंबाकू के विषाक्त प्रभाव को प्रमुख कारण बताया, अब सरकार ने एक सीमित क्षेत्र को छोड़कर तंबाकू की खेती पर पाबंदी लगा दी है।

तंबाकू की खेती से उत्पन्न होने वाले संकट से दूसरे देश सतर्क हो रहे हैं तथा यह अनुभव कर रहे हैं कि तात्कालिक लाभ देने वाला यह उत्पादन कुल मिलाकर अत्यंत घाटे का सौदा है, अपने देश को भी इससे सबक लेना चाहिए। अन्न की कमी के कारण करोड़ों व्यक्ति एक जून पेट भर कर गुजारा करते हैं। निरर्थक वस्तु के उत्पादन में कृषि योग्य भूमि का एक बड़ा भाग लगा रहे और अंततः अपनी खाद्यान्न उत्पादन की क्षमता गँवा बैठे, इससे बढ़कर क्षति दूसरी कोई नहीं होगी। संबद्ध उद्योग में लगे व्यक्तियों को देश और देशवासियों का भी ध्यान रखना चाहिए तथा सोचना चाहिए कि इस विष के उत्पादन से वे देश और समाज को क्या दे रहे हैं।

तंबाकू का तो यह एक उदाहरण मात्र है। ऐसी कितनी ही वस्तुएँ हैं जिनके उत्पादन में देश की एक बहुत बड़ी धन शक्ति और श्रम शक्ति लगी हुई है। शराब भी उसी के अंतर्गत आती है। शृंगार के अनेकानेक कृत्रिम संसाधनों के निर्माण में देश की विपुल संपदा लगी हुई है। उपयोगिता की कसौटी पर कसा जाए तो मालूम होगा कि उनकी आम व्यक्ति को राई रत्ती भर आवश्यकता नही है। उतनी पूँजी अन्य उपयोगी दैनंदिन जीवन की वस्तुओं के निर्माण में नियोजित कर दी जाय तो समाज और राष्ट्र की प्रगति में भी भारी

सहयोग मिलेगा। संबंधित नीतियों के निर्धारण में सरकार भी अपना अंकुश कड़ा कर दे तो जिन व्यक्तियों का उद्योगों पर आधिपत्य है उन्हें भी विवश होकर उन वस्तुओं के उत्पादन की ओर उन्मुख होना पड़ेगा जो समाज और देश की प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं। देश एवं समाज की प्रगति तथा सही अर्थों में समुन्नति की जिन विचारशीलों को चिंता है उनका कर्त्तव्य है कि संबद्ध विषय पर गंभीरता से विचार करें तथा उत्पादन के उपयुक्त और उपयोगी मापदंडों पर आधारित अर्थनीति निर्धारित करें ऐसी नीति जो विवेकपूर्ण ढंग से प्रगति का पथ प्रशस्त करती हो।

◆

प्राकृतिक विभीषिकाओं का कारण एवं निवारण

धर्म कर्त्तव्य और सेवा साधना के साथ "बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय" की कसौटी भी जुड़ी है। जिस कार्य से जितने अधिक लोगों का लाभ होता है, जितने व्यापक क्षेत्र में उसके सत्परिणाम होते हैं उसे ही उच्च स्तर का धर्म कहा जा सकता है। इस दृष्टि से वृक्षारोपण को एक परम पुनीत धर्म-कर्त्तव्य कहा जा सकता है। क्योंकि इसके द्वारा न केवल अधिक संख्या में अधिक लोगों का व्यापक क्षेत्र में हित-साधन होता है, बल्कि इसके सत्परिणाम पूरी मनुष्य जाति के लिए लाभदायक और हितकारक सिद्ध होते हैं।

मनुष्य और वृक्ष का जीवन परस्पर अति घनिष्ठता के साथ जुड़ा है। वह श्वाँस द्वारा जो गंदी वायु बाहर निकालता है, वृक्ष उसे पी लेते हैं और उस वायु को शुद्ध करके प्राणवायु के रूप में मनुष्य को वापस लौटा देते हैं। इस आदान-प्रदान पर वायुमंडल की शुद्धि भी निर्भर है। तेजी से बढ़ते जा रहे यंत्रीकरण के इस युग में तो वृक्षों का महत्त्व और भी बढ़ गया है। यह तो सभी जानते हैं कि हवा का मिलना ही पर्याप्त नहीं है। हवा मिलने से भी ज्यादा आवश्यक उसका शुद्ध होना है। इन दिनों बड़े-बड़े कारखाने, रेल-मोटरें, वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ, फैक्टरियाँ और मोटर कारें जितना अधिक धुआँ वायुमंडल में उगलती हैं, वह हवा में मिलकर उसकी शुद्धता को नष्ट ही करता है। पिछले

दिनों पृथ्वी के वायुमंडल में प्राणवायु तेजी से कम होती जा रही है तथा दूसरे तत्त्व यथा कार्बन डाईऑक्साइड, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि बढ़ रहे हैं। इस स्थिति के लिए बढ़ती हुई यांत्रिक सभ्यता को ही उत्तरादायी ठहराया गया है। साथ ही इस वायु प्रदूषण को दूर करने के लिए वृक्ष लगाने और वनस्पतियों का संवर्धन करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया है।

वायुमंडल को शुद्ध बनाने के साथ वृक्ष-वनस्पति वर्षा को भी प्रभावित करते हैं। वृक्ष बादलों को आकर्षित करते हैं। जहाँ घने पेड़ होते हैं, वहाँ वर्षा भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त वृक्षों से प्राप्त होने वाले फल मनुष्य का सर्वोत्तम, सुपाच्य, स्वादिष्ट और पौष्टिक तत्त्वों से भरपूर प्राकृतिक भोजन हैं। रोगी-निरोग, बाल-वृद्ध सभी को इस अमृत उपलब्धि से तृप्ति और तुष्टि मिलती है, नयनाभिराम पल्लव और पुष्प उदास मन को उल्लास से भर देते हैं। इसलिए वृक्षारोपण के महत्त्व को समझाया जाना चाहिए तथा इसे भी रचनात्मक सामाजिक कार्यक्रमों का एक अंग बनाया जाना चाहिए।

खेद है कि मनुष्य जीवन से बहुत घनिष्ठ संबंध रखने वाले वृक्षों की न केवल उपेक्षा ही की जाती है वरन उनको तेजी से नष्ट भी किया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में आई विभिन्न प्रदेशों में भयंकर बाढ़ों का कारण भी वृक्ष-वनस्पतियों और वनों का तेजी से नष्ट होते जाना है। सरकार बाढ़ों की रोकथाम के लिए अनेक योजनाएँ बनाती है। इस दिशा में जो थोड़े बहुत प्रयास होते हैं वे अगले वर्ष ही विफल सिद्ध हो जाते हैं। इसका कारण समस्या के मूल कारण को न समझ पाना तथा उन्हें दूर करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना है। इस तथ्य को विशेषज्ञ एकमत से स्वीकार करते हैं कि जिस देश में वन संपदा का नाश किया जाएगा वहाँ बाढ़ संकट भी दिनों-दिन बढ़ता ही जाएगा। इस तथ्य का प्रमाण अपने ही देश में देखा जा सकता है। भारत में वन संपदा ज्यों-ज्यों नष्ट होती जा रही है, त्यों-त्यों प्रतिवर्ष आने वाली बाढ़ों की संख्या भी बढ़ती जा रही है।

भारत में वर्ष भर में चार मास ही वर्षा होती है जबकि संसार के बहुत से देशों में बारहों महीने पानी बरसता है। फिर भी वहाँ की नदियों में उतनी बाढ़ें नहीं आतीं जितनी कि अपने देश में आती हैं। इसका एक कारण यह भी बताया जाता है कि वर्षा ऋतु के समय में अपने देश में काफी अधिक घनी वर्षा होती है जिससे बाढ़ें आ जाती हैं, लेकिन यही एकमात्र कारण नहीं है, क्योंकि संसार के कई देशों में मानसूनी वर्षा होती है फिर भी वहाँ की नदियाँ यहाँ की अपेक्षा कम विनाश करती हैं।

बाढ़ों की बढ़ती जा रही गति संख्या का प्रधान कारण वन संपदा का नष्ट हो जाना है। वर्षा की बूँदें जब घने जंगल में उगे वृक्षों पर गिरती हैं तो उनका बहुत सा पानी वे पत्ते ही सोख लेते हैं और कुछ का वाष्पीकरण भी हो जाता है। अधिक वर्षा के कारण पानी की बूँदें जमीन पर गिरती हैं, उनमें वेग होता है और वे जमीन को काटती हैं। जबकि वृक्ष वनस्पति उस वेग को कम कर देते हैं। पेड़-पौधों द्वारा वर्षा का बहुत सा जल सोख लिया जाता है जबकि खुले मैदान में वह पानी बह निकलता है। इस संबंध में किए गए परीक्षणों से पता चला है कि यदि लगातार पंद्रह घंटे तक पानी गिरे और एक साथ छह इंच वर्षा हो तो सघन वनों में एक बूँद पानी भी जमीन की सतह से नदी-नालों से नहीं बहेगा।

सीधे जमीन पर गिरकर बहने वाला पानी जमीन को काटता हुआ चलता है। इस पानी में मिट्टी के बारीक कण मिल जाते हैं जो नदियों में पहुँचकर उन्हें उथला बना देते हैं। मटमैले पानी का घनत्व चूँकि स्वच्छ पानी से अधिक रहता है इसलिए वह बहते समय मिट्टी को अधिक खरोंचता हुआ नदियों में जाता है और नदी की तलहटी में मिट्टी भरता जाता है। इस प्रकार नदी प्रतिवर्ष उथली होती जाती है। उथली होती जा रही नदियों का पाट भी प्रतिवर्ष चौड़ा होता जाता है और चौड़े पाट वाली ये नदियाँ प्राय: अपनी दिशाएँ बदलती रहती हैं जिसके कारण प्रतिवर्ष आने वाली

बाढ़ एक विस्तृत भूभाग में जानमाल का सत्यानाश करके चली जाती है।

इसके विपरीत वनों में खड़े हुए सघन पेड़ों से छनकर निकलने वाला पानी काफी स्वच्छ रहता है। वह पत्तों से धीरे-धीरे, कम वेग के साथ जमीन पर गिरता है और भूमि पर उगे हुए घास-फूस से शनैः शनैः बाहर निकलता है। इस स्वच्छ जल में नदी को और गहरा बनाने की शक्ति रहती है। यही कारण है कि जहाँ घने वन पाए जाते हैं, वहाँ बाढ़ें कम आती हैं। अमेरिका में बाढ़ों को रोकने के लिए अन्यान्य व्यवस्थाओं के साथ-साथ वनस्पति संबंधन पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

इस दृष्टि से वृक्षों का होना मानवीय जीवन और उसकी संपदा की सुरक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कोई व्यक्ति वृक्ष न लगा सके तो भी इतना तो किया ही जा सकता है कि हरे पेड़ों को काटा न जाए। वृक्ष के सूख जाने पर उन्हें काटना आवश्यक हो जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी मनुष्य या प्राणी के मर जाने पर उसे जलाना, गाढ़ना या फैंकना, लेकिन अपने लाभ के लिए किसी जीवित मनुष्य को मारना अपराध है, उसी तरह हरे-भरे वृक्षों को काटना जीव हत्या से कम बड़ा पाप नहीं है। इस संबंध में अमेरिका के 'क्राइम ईनवेस्टिगेशन ब्यूरो' ने एक चौंकाने वाला आँकड़ा प्रस्तुत किया है जो पर्यावरण संतुलन के ऊपर असाधारण प्रकाश डालता है। विशेषज्ञों के एक दल ने विश्व के विभिन्न स्थानों की जलवायु के परीक्षण के दौरान पाया कि आयरलैंड के आल्स्टर प्रदेश में पर्यावरण एवं प्रदूषण अपराध की घटनाओं में परस्पर बड़ा सघन संबंध है। चोरी, डकैती, हत्या, बलात्कार आदि घटनाओं का अनुपात अन्य क्षेत्रों की तुलना में यहाँ—सबसे अधिक पाया गया। संबंध कारणों की खोजबीन करने के लिए वैज्ञानिकों की एक यंत्रों से सुसज्जित टोली यहाँ पहुँची। वहाँ के वातावरण का गहरा विश्लेषण किया गया। शासन व्यवस्था,

समाज व्यवस्था, धर्मतंत्र आदि की विकृतियाँ शायद आपराधिक प्रवृत्तियों का कारण हों, समाज शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के एक दल ने इन तंत्रों का गंभीरता से अध्ययन किया पर कोई भी सूत्र हाथ न लग सका। स्थानीय वातावरण की ओर जब वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ तो खोजबीन करने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ के वातावरण में से ऑक्सीजन-प्राणवायु के मूलभूत स्रोत वनों-वृक्ष वनस्पतियों का क्षेत्र वहाँ के कुल भूभाग पर मात्र दो प्रतिशत अवशेष बचा है, जो पर्यावरण संतुलन के लिए अनिवार्य वृक्ष-संपदा से १६ गुना कम है। प्राणवायु की न्यूनता का कारण वृक्ष-संपदा की अत्यधिक कमी को माना गया।

क्या हरीतिमा की न्यूनाधिकता मानवी प्रकृति को उसके आचरण को प्रभावित करने में समर्थ है? इस प्रश्न की ओर विशेषज्ञों का ध्यान पहली बार आकर्षित हुआ, संबद्ध प्रश्नों के उत्तर के लिए स्थानीय जलवायु एवं वातावरण का गंभीरतापूर्वक अध्ययन एवं प्रयोग परीक्षण किया गया। कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आए।

हरीतिमा की वृक्ष-वनस्पतियों की कमी से वातावरण में ऑक्सीजन की मात्रा कम पड़ जाती है। ऑक्सीजन जीवन का स्रोत है। वातावरण में इसकी कमी न केवल शारीरिक वरन अनेकों प्रकार के मानसिक रोगों को जन्म देती है। स्वच्छ एवं प्रचुर परिमाण में प्राणवायु न मिलने से मनुष्य का मस्तिष्क संस्थान अस्वस्थ हो जाता है। मानसिक विक्षोभों के कारण मनःसंतुलन डगमगा जाता है। विक्षुब्ध मनःस्थिति मनोआवेगों को जन्म देती है। सर्वविदित है कि अपराध कृत्यों में आवेश ग्रस्त मनःस्थिति की प्रमुख भूमिका होती है।

इस निष्कर्ष के उपरांत विश्व के विभिन्न स्थानों का इसी दृष्टिकोण से सर्वेक्षण किया गया तो यह पता चला कि जिन प्रदेशों में मरुस्थल आदि अधिक हैं तथा वृक्ष संपदा अत्यल्प है, वहाँ भी अन्य क्षेत्रों की तुलना में कहीं अधिक अपराध होते हैं। मरुभूमियों में निवास करने वालों की प्रकृति भी अपेक्षाकृत अन्य प्रदेशों के

निवासियों से कहीं अधिक कठोर होती है। इतिहास की घटना साक्षी है कि विश्व में सबसे अधिक संघर्ष, युद्ध तथा दंगे अरब राष्ट्रों में हुए हैं। अपनी बर्बरता के लिए अभी भी अरब राष्ट्र कुख्यात हैं। उल्लेखनीय है कि रेगिस्तानी क्षेत्र अधिकतर इन्हीं प्रदेशों में पाए जाते हैं। अधिकांश क्षेत्रों में वृक्ष-वनस्पतियों का अभाव है। समृद्धि का भंडागार—तेल संपदा का विपुल परिमाण होते हुए भी सामाजिक जीवन में अराजकता एवं अस्थिरता इन क्षेत्रों में देखी जा सकती है। उपरोक्त निष्कर्षों के अनुसार संभव है हरीतिमा के अभाव से प्राणवायु में होने वाली कमी वहाँ व्यापक स्तर पर सामूहिक रूप से मानसिक असंतुलनों को जन्म देती हो। फलस्वरूप उत्पन्न हुआ, विक्षोभ भी आपसी संघर्षों का प्रेरणा स्रोत बनता है।

मन: संतुलन, मानसिक प्रसन्नता प्रफुल्लता में नयनाभिराम हरीतिमा का भी योगदान होता है, इस तथ्य को हर कोई अनुभव कर सकता है। प्रकृति के अंचल में सघन वृक्ष-वनस्पितियों से आच्छादित प्रदेशों में भ्रमण पर्यटन को शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी माना गया है। अपने व्यस्त समय में से कुछ भी समय निकालकर कितने ही व्यक्ति प्रकृति के सौंदर्य का दर्शन करने पर्वतीय क्षेत्रों में पहुँचते रहते हैं। वहाँ फैली विपुल हरीतिमा से उत्सर्जित होने वाली प्रचुर परिमाण में प्राणवायु का जाने-अनजाने लाभ उठाते देखे जाते हैं। असाध्य रोगियों को विशेष स्वास्थ्य लाभ के लिए सेनेटोरियमों में कुछ समय तक स्थायी रूप से निवास करने का परामर्श दिया जाता है। ज्ञातव्य है कि सेनिटोरियम ऐसे स्थान पर बनाए जाते हैं जहाँ प्राणवायु की बहुलता हो। वे प्राय: ऐसे स्थान पर बने होते हैं जहाँ वृक्ष वनस्पतियों की मात्रा अधिक होती है। वहाँ के वातावरण में घुली-मिली प्राणवायु की अधिकता न केवल शरीर की जीवनी शक्ति बढ़ाती है वरन रोगी की मन:स्थिति को भी सुसंतुलित बनाती है। दुहरे उपचार का दुहरा प्रभाव पड़ता है और शीघ्र ही स्वस्थ एवं निरोग होते अधिकांश रोगी देखे जाते हैं।

इस सत्य को और भी अधिक निकटता से देखना हो तो वन क्षेत्रों, पर्वतीय इलाकों में निवास करने वाली जातियों के जीवन क्रम को देखकर किया जा सकता है। घोर अभावों विपन्नताओं में रहते हुए भी उनकी स्वाभाविक मस्ती देखते बनती है। हिमालय के अंचल में ऐसी कितनी ही पहाड़ी जातियाँ निवास करती हैं। उनके जीवन की सहजता एवं सरलता तथा स्वभाव की पवित्रता अपने में बेमिशाल है। अब तक हिमालय पर्यटन पर गए अधिकांश यात्रियों का अनुभव है कि मेहनत मजदूरी आदि के द्वारा आजीविका चलाने वाले कुली अत्यधिक ईमानदार होते हैं। यात्रियों का सामान लेकर वे मार्ग के अभ्यस्त होने के कारण मीलों आगे निकल जाते हैं, पर कभी भी किसी यात्री का कोई सामान लेकर नहीं भागते हैं। निर्धारित स्थान पर पहुँचने पर यात्री अपना सभी सामान सुरक्षित पाते हैं। गरीबी एवं अभावों में रहते हुए भी इनमें लड़ाई-झगड़े की, दंगे-फसाद की नौबत कभी नहीं आती। स्वास्थ्य, आरोग्य आयु की दृष्टि से भी इन प्रदेशों के निवासी अधिक स्वस्थ, निरोग एवं दीर्घजीवी पाए जाते हैं।

हरीतिमा की महत्ता, उपयोगिता एवं गरिमा का यह एक ऐसा पक्ष है जो यह बताता है कि मानवी प्रकृति भी वृक्ष संपदा की न्यूनाधिकता से प्रभावित होती है। स्वभाव में कठोरता एवं सौम्यता का समावेश करने में वृक्ष-वनस्पतियों से उत्पन्न प्राणतत्त्व की कमी या अधिकता का योगदान होता है। सर्व विदित है कि पिछले कुछ दशकों में वृक्ष-वनस्पतियों का बुरी तरह दोहन हुआ है। पर्यावरण संतुलन के लिए कुल भूभाग में तैंतीस प्रतिशत वृक्षों का आच्छादन होना आवश्यक है जो तेजी से कटते-कटते मात्र २३ प्रतिशत अवशेष बचा है। एक विचित्र किंतु यथार्थ तथ्य यह है कि वन-संपदा के निरंतर ह्रास के साथ विश्व में आपराधिक गतिविधियों में बढ़ोत्तरी हुई है। संभव है, वनों की कटाई से होने वाली वातावरण में प्राणवायु की कमी मन:विक्षोभों

एवं आवेगों को जन्म देकर अपराध कृत्यों को बढ़ावा देने में सहयोग देती हो। आल्सटर प्रदेश में हुए अनुसंधान के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि अन्य भौतिक कारणों के साथ-साथ विश्व में तनावों को बढ़ावा देने में वातावरण में घटती हुई प्राणवायु की मात्रा भी एक कारण हो सकती है।

इसके अतिरिक्त भी हरीतिमा के कितने ही पक्ष हैं जो उसकी असाधारण महत्ता पर प्रकाश डालते हैं। पर्यावरण संतुलन में वृक्ष-संपदा के महत्त्वपूर्ण योगदान की बात को विश्व के मूर्धन्य वैज्ञानिक स्वीकार कर चुके हैं। अब सर्वत्र यह अनुभव किया जा रहा है कि वृक्षों के साथ मानव जाति का भविष्य जुड़ा हुआ है। प्रकृति विक्षोभों की विभीषिकाएँ जो इन दिनों अधिकता में परिलक्षित हो रही हैं उनको आमंत्रित करने में मनुष्य के अदूरदर्शिता पूर्ण तथाकथित प्रगति प्रयासों की भी भूमिका है। औद्योगीकरण आदि के लिए वनों की तीव्रगति से कटाई का दुष्परिणाम समूचे पर्यावरण चक्र पर पड़ा है। मौसम में अप्रत्याशित हेर-फेर, बाढ़, भूस्खलन की प्रस्तुत प्रकृति विपदाएँ मनुष्य के दुष्कृत्यों का ही परिणाम हैं।

वातावरण की विषाक्तता के परिशोधन में भी वृक्ष-वनस्पतियों की असाधारण भूमिका होती है। मनुष्य जिस विष गंदगी को—शरीर विकार को कार्बन डाई ऑक्साइड के माध्यम से श्वास द्वारा बाहर निकाल देता है, वृक्ष उस गरल का पान करते हैं तथा बदले में स्वच्छ ऑक्सीजन का जीवन तत्त्व सतत् छोड़ते रहते हैं, औद्योगीकरण से उत्पन्न प्रदूषण को वृक्ष अपने भीतर अवशोषित कर लेते हैं तथा परिशोधित करके स्वच्छ-स्वास्थ्य संवर्धक प्राणवायु वातावरण में बिखेरते रहते हैं। मनुष्य की भौतिक समृद्धि भी प्रत्यक्ष रूप से हरीतिमा संवर्धन के साथ जुड़ी हुई है। प्रकृति मनुष्य का साथ देती रहे, समय पर मौसम में व्यतिरेक न हो, वर्षा उचित परिमाण में होती रहे तो इस संतुलित चक्र से समृद्धि पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है।

संभवतः यही कारण है कि भारत ही नहीं अन्य देशों में—धर्मों में वृक्षारोपण को उपासना की भाँति ही एक पावन पुनीत कृत्य माना गया है। आदि काल से ही भारतीय वृक्षों की महत्ता से सुपरिचित थे। उन्हें देवताओं की भाँति अनुदान देने वाला मानकर हरीतिमा संवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहते थे। वृक्षों के प्रति कितनी अधिक श्रद्धा थी, इसका प्रमाण अनेकों ग्रंथों में मिलता है। यजुर्वेद संहिता में एक मंत्र आता है—आज्यं बहन्तीरमृतम् पयः कोलालम् परिस्रुतम्। स्वचास्थतर्पयतमे पितृन।'

अर्थात—(हे वृक्ष देवता)·····तेज प्रदाता घृत, पुष्टि प्रदाता दूध और सब प्रकार से स्रवित रसों से युक्त उत्तम रसायान आदि को धारण करते हुए मेरे वृद्धजनों पितरों को तृप्त करो।

अग्नि पुराण में ऋषि प्रवर ने एक पेड़ लगाने तथा उसे विकसित करने को दस पुत्रों के पालन-पोषण की भाँति कल्याणकारी पुण्य फल वाला माना है। भारत में तो आँवला, पीपल, आम आदि वृक्षों की प्रतीक उपासना का भी वर्णन मिलता है। यह वस्तुतः वृक्ष वनस्पतियों को संरक्षण एवं पोषण देने के ही प्रतिपादन भर हैं।

भारत ही नहीं अन्य देशों में भी वृक्ष-उपासना के प्रति लोगों की श्रद्धा किसी न किसी रूप में आज भी बनी हुई है। ब्रिटेन में गेलिक भाषा में 'देवरारू' को दशक कहा जाता है तथा ओक वृक्ष को बलूत के नाम से जाना जाता है। वहाँ की कुछ जातियाँ इन वृक्षों की विधिवत पूजा श्रद्धापूर्वक करती हैं। मैक्सिको तथा मध्य अमेरिका, स्वीडेन और नार्वे में लंबे समय तक साइप्रस एवं खजूर के पेड़ों की पूजा होती रही है। अफ्रीका एवं कांगो के निवासियों का ऐसा विश्वास है कि वृक्षों के नीचे बैठकर यदि झगड़ों विवादों का निपटारा किया जाए तो निर्णय गलती की संभावना नहीं रहती। आज भी भारत, अफ्रीका एवं कांगो में पेड़ों के नीचे पंचायत लगने का रिवाज प्रचलित है।

वृक्ष उपासना का अर्थ है—उसकी महत्ता को स्वीकार करना। उसे संरक्षण एवं पोषण देना। इसी तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए वृक्ष आराधना लंबे समय तक प्रचलित रही है। जिसे कभी अंध विश्वास कहकर उपहास उड़ाया जाता था लेकिन आज उसके पीछे सन्निहित सूक्ष्म रहस्यों को समझा एवं महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। जीवनदायी वृक्षों की उपोगिता उपादेयता अब किसी से छुपी नहीं रह गई है।

दुर्भाग्यवश अपने देश में पिछले कुछ दशकों में वनों की अंधाधुंध कटाई की गई है, फलस्वरूप कुल भूभाग का बीस प्रतिशत भाग वनों का अवशेष बचा है जो अनिवार्य पर्यावरण संतुलन सीमा से तेरह प्रतिशत कम है। अन्य देशों में वृक्षों की कटाई पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया है तथा हरीतिमा बढ़ाने के सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही स्तर पर समग्र प्रयास आरंभ कर दिए हैं। अपने यहाँ भी हर व्यक्ति का यह सामाजिक दायित्व बनता है कि वह हरीतिमा संवर्धन के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्तर पर प्रयास करें। वृक्ष काटने संबंधी कानून तो बनें पर जन स्तर पर भी आंदोलन चलाया जाए। व्यावहारिक स्तर पर कुछ रचनात्मक कार्यक्रम भी हाथ में लिए जा सकते हैं वृक्षारोपण की दिशा में अधिक उत्साह के साथ प्रयत्न करना ही रचनात्मक कदम हो सकता है। गाँवों में, घरों के आस-पास कुछ जगह खाली पड़ी रहती है। उस खाली जगह में पेड़ लगाए जाएँ तो, गाँव किसी बगीचे में बसा हुआ सुंदर शोभायमान प्रतीत होगा। खेतों में यथा स्थान फल वाले वृक्ष लगाए जा सकते हैं। ऐसे बहुत से पेड़ होते हैं जो जगह भी ज्यादा नहीं घेरते, इससे उनके आस-पास खेती में भी अड़चन नहीं आती और साथ ही उनसे फलों का, छाया का लाभ मिल सकता है। जहाँ खाली जगह है, जमीन ऊसर और बंजर है वहाँ भी जमीन के उपयुक्त वृक्ष लगाए जा सकते हैं। किस जमीन में कौन सा पेड़ लग सकता है, यह जानकारी हो तो पहाड़ों पर भी वन संपदा उगाने का लाभ उठाया जा सकता है।

इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पेड़ लगाने के बाद निश्चिंत हो जाने के काम नहीं चल सकता। यह तो लकीर भर पीटना हुआ। वृक्षारोपण के साथ-साथ उनके खाद-पानी, निराई-गुड़ाई, बाढ़, रखवाली और साज-सम्हाल की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। स्वयं इस प्रकार के कार्यों में रुचि लेने के साथ-साथ सर्व साधारण को भी वृक्षारोपण का महत्त्व समझना-समझाना चाहिए और इस दिशा में प्रेरित प्रोत्साहित करना चाहिए।

◆

वृक्ष वनस्पतियों के अनुदान भी भुलाए नहीं जा सकते

पर्यावरण संतुलन में वृक्ष संपदा का सर्वाधिक महत्त्व है। पेड़-पौधे इस संतुलन को बनाए रखने में असामान्य भूमिका निभाते हैं।

मौसम, वर्षा और यहाँ तक कि प्राणियों का अस्तित्व भी वृक्ष-वनस्पतियों पर अवलंबित है। इनसे मिलने वाली प्राणवायु यदि थोड़े समय के लिए बंद हो जाए तो जीवधारियों का जीवन संकट में पड़ जाएगा और कुछ ही क्षणों में दिखाई पड़ने वाले प्राणियों की हलचलें समाप्त हो जाएगी। प्राणवायु के बाद जीवित रहने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है पानी। इसका स्रोत भी वृक्ष वनस्पतियाँ हैं। बादलों के गर्भ से अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा जल को खींचकर निकटवर्ती क्षेत्र में उसे प्राणी समुदाय के लिए उपलब्ध कराने में वृक्षों की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है उसे सभी जानते हैं। मरुस्थलों के ऊपर बादल उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, किंतु वृक्ष के अभाव में वहाँ पानी का दर्शन नहीं हो पाता तथा सदा जल संकट बना रहता है। जीवित रहने के लिए खाद्यान्नों का नंबर तो प्राण-वायु और जल के बाद आता है। खाद्यान्न के अभाव में तो कुछ दिनों तक जीवित भी रह जा सकता है, किंतु प्राणवायु के बिना तो कुछ मिनटों तक ही जीवित रह सकना संभव है। इन दो तत्त्वों प्राणवायु और जल का प्रचुर परिमाण में प्राप्त कर सकना वृक्ष संपदा द्वारा ही संभव है।

अपने जीवन काल में वृक्ष जीवधारियों की अनेकों प्रकार से सेवाएँ करते हैं। सतत ऑक्सीजन के रूप में प्राणवायु नियत करना, बादलों से अभीष्ट मात्रा में जल उपलब्ध कराना, एक प्रदूषक नियंत्रक—सेवक के रूप में वायु प्रदूषक अवयवों की सफाई करना, भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाना, पुष्प और फल देना, जलाऊ तथा अनेकों कार्यों के लिए लकड़ी प्रदान करने जैसे अनेकों प्रकार के भौतिक अनुदानों से मनुष्य निरंतर लाभ उठाता रहता है। उसके परोक्ष और प्रत्यक्ष अनुदानों का भौतिक मूल्यांकन करने पर हतप्रभ रह जाना पड़ता है। सामान्यतया वृक्षों से प्राप्त होने वाली लकड़ी और फलों के रूप में वृक्षों की कीमत आँकी जाती है, किंतु यह एक छोटा पक्ष है। वृक्षों के परोक्ष अनुदानों का मूल्यांकन पैसों में किया जाए तो पता चलता है कि प्रत्यक्ष की तुलना में उसकी परोक्ष सेवा कई गुनी अधिक कीमती और महत्त्वपूर्ण है।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर के डॉ० टी०एम० दास वनस्पति शास्त्र के विशेषज्ञ हैं। उनके अनुसार एक वृक्ष अपने ५० वर्ष के जीवन काल में जितनी सेवा करता है उसकी कीमत पैसे में जोड़ने पर पंद्रह लाख रुपए से भी अधिक आती है। एक वृक्ष ५० वर्ष की अवधि में ढाई लाख रुपए के बराबर की खाद जितनी सहायता प्रदान करता है, प्रदूषण नियंत्रण के रूप में वायु प्रदूषक अवयवों की मुफ्त सफाई पाँच लाख रुपए के बराबर करता है। आद्रता रोकने, वर्षा कराने तथा खाद्य प्रोटीनों की कीमत जोड़ने पर भी पचास वर्ष की अवधि में लगभग पाँच लाख रुपए की राशि आती है। १५ लाख रुपए के बराबर वृक्ष की परोक्ष सेवाओं का मूल्यांकन करके सामान्यतया लकड़ी एवं फलों से प्राप्त होने वाले कुछ सौ रुपए के रूप में उसकी कीमत आँकी जाती है।

यह तो एक वृक्ष की बात हुई। प्रकृति प्रदत्त वृक्ष संपदा से मिलने वाले कुल भौतिक अनुदानों के लेखा-जोखा लेने पर ज्ञात होता है कि जितनी सेवा वृक्ष मुफ्त में करते हैं उतनी शायद

मनुष्य भी न करता हो। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार अपने देश के कुल भूभाग के २३ प्रतिशत क्षेत्र में वन हैं। जबकि पर्यावरण संतुलन एवं देश के आर्थिक विकास के लिए कुल क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग वनों से आच्छादित रहना आवश्यक है। भारत के वन क्षेत्र २ लाख ७४ हजार वर्गमील में फैले हुए हैं। जो ३८ खरब ७८ अरब ११ करोड़ २९ लाख ६० हजार वर्ग फीट के लगभग आता है। वर्ग फीटों में पेड़ों को गिना जाए तो भारत के २३ प्रतिशत भूभाग में फैले कुल वृक्षों की संख्या १९ अरब ३९ करोड़ ५ लाख ६४ हजार ८ सौ होती है। एक वृक्ष ५० वर्ष की अवधि में ढाई लाख रुपए का ऑक्सीजन, ढाई लाख का उर्वरक, पाँच लाख रुपए के बराबर प्रदूषण निवारण तथा पाँच लाख रुपए की वर्षा कराने जैसी उपलब्धियाँ प्रस्तुत करता है। देश के २३ प्रतिशत भूभाग में फैले लगभग १९ अरब ३९ करोड़ ५ लाख ६४ हजार वृक्षों द्वारा ५० वर्षों में प्राप्त होने वाले लाभों का आर्थिक मूल्यांकन करने पर कुल आंकड़े इस प्रकार आते हैं। ४८ हजार ४ सौ ७६ खरब ४१ अरब २० करोड़ रुपए के बराबर ऑक्सीजन, ९६ हजार नौ सौ ५२ खरब ८२ अरब ४० करोड़ रुपए के बराबर वायु प्रदूषण निवारण, ४८ हजार ४ सौ ७६ खरब ४१ अरब २० करोड़ रुपए कीमत की वर्षा आदि। कुल धनराशि जोड़ने पर २ लाख ८० हजार ५८ खरब ४७ अरब २० करोड़ रुपए का लाभ ५० वर्षों की अवधि में प्राप्त होगा। भारत के कुल वन क्षेत्र से इस प्रकार प्रति वर्ष ५८ हजार ५८ खरब ४७ अरब २ करोड़ के बराबर विभिन्न प्रकार के परोक्ष लाभ, प्राणवायु, उर्वरक क्षमता, वातावरण शोधन तथा वर्षा के रूप में प्राप्त हो रहा है। जो भारत के छटी पंचवर्षीय योजना के कुल बजट के चार हजार गुना से भी अधिक है।

पर्यावरण संतुलन के लिए कुल भूभाग के क्षेत्रफल का ३३ प्रतिशत वृक्ष वनस्पतियों से ढका होना चाहिए। कभी देश की ७०

प्रतिशत भूमि वनों से आच्छादित थी। कटते-कटते वह मात्र २२ प्रतिशत अवशेष बची है। अनिवार्य पर्यावरण संतुलन सीमा से भी यह ११ प्रतिशत कम है। दूसरे प्रगतिशील देशों ने कड़ाई के साथ वन संपदा को नष्ट करने पर रोक लगा दी है। फिनलैंड में अब भी ६६ प्रतिशत भूमि में वन हैं। जापान जैसे औद्योगिक राष्ट्र जहाँ कि ईंधन की अधिक आवश्यकता उद्योगों के लिए पड़ती है, में भी ६२ प्रतिशत क्षेत्रफल पेड़ पौधों से हरा-भरा है। रूस के कुल क्षेत्रफल के ३४ प्रतिशत तथा अमेरिका में ३३ प्रतिशत भाग में वन हैं। सर्वाधिक अदूरदर्शिता का परिचय अपने देशवासियों ने दिया है। अंधाधुंध वृक्षें की कटाई के कारण असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इस स्थिति को कड़ाई से रोकना होगा तथा संतुलन के लिए वृक्षारोपण जैसे पुनीत भौतिक और आध्यात्मिक लाभ देने वाले कार्य को अविलम्ब आरंभ करना होगा।

एक वृक्ष काटने से अधिक से अधिक एक हजार रुपए कीमत की जलाऊ तथा अन्य निर्माण योग्य लकड़ी प्राप्त होती है; किंतु उसके बने रहने से प्रतिवर्ष ३० हजार का स्वच्छ ऑक्सीजन, उर्वरक, पानी और वायु प्रदूषण निवारण का लाभ प्राप्त होता है। कटाई का अर्थ होगा लंबे समय तक प्रतिवर्ष ३० हजार रुपए के लगभग का जो योगदान प्रकृति संतुलन के रूप में मिल सकता था, उससे वंचित रह जाना। अपने देश में एक लाख ३७ हजार वर्ग मील क्षेत्र में वृक्ष लगाने होंगे। इस क्षेत्र में लगभग ९ अरब ६९ करोड़ ५२ लाख ८२ हजार वृक्ष लगाने की आवश्यकता होगी। तब कहीं जाकर ३३ प्रतिशत वन संपदा, जो पर्यावरण संतुलन के लिए आवश्यक है का संतुलन बनेगा। भारत की कुल वर्तमान जनसंख्या सढ़सठ करोड़ पचास लाख है। एक व्यक्ति के पीछे लगभग १२ वृक्ष आते हैं अर्थात प्रत्येक व्यक्ति १२ वृक्ष लगाए तो ३३ प्रतिशत अनिवार्य वृक्ष संपदा का लक्ष्य पूरा हो सकेगा।

भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से वृक्षारोपण जैसा पुनीत कार्य दूसरा नहीं हो सकता। कभी इस देश में वृक्ष लगाने को एक आध्यात्मिक कृत्य माना जाता था। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्रगति के लिए इस प्रचलन का अनिवार्य रूप से पालन करता था। इसके पीछे यही तथ्य सन्निहित था कि पर्यावरण संतुलित बने रहने पर ही मनुष्य की प्रगति एवं समुन्नति संभव है। वृक्षों की असामान्य भूमिका से तत्कालीन ऋषि परिचित थे। इसीलिए उन्होंने वृक्ष लगाने को अन्य धार्मिक कृत्यों जैसा ही पवित्र और उपयोगी कार्य माना था। कालांतर में इस प्रचलन की अवहेलना हुई और तथाकथित प्रगतिशीलों ने धार्मिक अविश्वास कहकर उपेक्षा की। फलस्वरूप वृक्ष कटते तो गए किंतु वृक्ष लगाने की व्यवस्था न बन सकी। वृक्षों की उपयोगिता और महत्त्वपूर्ण भूमिका का रहस्योद्‌घाटन वैज्ञानिक विकास के साथ हआ। विश्व के मूर्धन्य वनस्पति शास्त्री पर्यावरण विशेषज्ञ अब एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं कि वृक्ष संपदा पर समस्त मानव जाति का अस्तित्व टिका हुआ है। ये प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ प्रहरी हैं। जिनके न रहने से प्राणी समुदाय का जीवन संकट में पड़ जाएगा। प्रगतिशील देशों ने इस तथ्य को समझा है, अपनी वन संपदा को बचाने एवं बढ़ाने के लिए हर तरह के कारगर उपाय सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर आरंभ कर दिए हैं।

अपने यहाँ वृक्षारोपण को अभी उतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सका है। सरकार इस दिशा में सचेष्ट है किंतु कोई भी रचनात्मक कार्यक्रम जन-आंदोलन के रूप में फैलने पर ही सफल हो पाते हैं। जब तक जनता वृक्षों की महत्ता को गंभीरता से नहीं स्वीकार करेगी तब तक सरकारी प्रयास भी उतने सफल नहीं हो सकेंगे। एक आँकड़े के अनुसार सन् १९७५ से १९७९ तक सरकार वनोद्यानों में २ अरब ५ करोड़ ७० हजार रुपए लगा चुकी है। मार्च १९७९ तक ३४ लाख हेक्टेयर अर्थात ३ खरब ६५ अरब ७८ करोड़

५६ लाख वर्ग फीट क्षेत्रफल में वृक्ष लगाने का आरंभिक कार्य पूरा किया। २०० वर्ग फीट में एक वृक्ष मानने पर कुल लगाए गए वृक्षों की संख्या एक अरब ८२ करोड़ ८९ लाख २८ हजार के लगभग आती है। सरकार अपने स्तर पर प्रयत्नशील है तथा प्रतिवर्ष एक बड़ी धनराशि इस कार्य में लगा रही है। किंतु वृक्ष लगा देने मात्र से उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। समुचित देख-रेख के अभाव में इन वृक्षों में से तीन चौथाई रोज मर जाते हैं। एक चौथाई ही पेड़ की स्थिति में पहुँचते हैं। देश की, समाज की सेवा मान कर जनता इस कार्य को अपने हाथों में ले ले तो राष्ट्रीय संपत्ति भी बचेगी और वृक्षारोपण का अभीष्ट लक्ष्य भी पूरा हो सकेगा। बचत की धनराशि को सरकार दूसरे महत्त्वपूर्ण कार्यों में नियोजित कर सकती है।

एक व्यक्ति के जिम्मे १२ वृक्ष आते हैं। एक तरीका यह भी होता है कि हर परिवार अपने पारिवारिक सदस्यों के हिसाब से वृक्षारोपण का दायित्व उठावे। मात्र पौधा लगाने को ही इतिश्री न समझा जाए। इनमें पानी खाद देने तथा वृक्ष के रूप में विकसित होने तक समुचित देख-रेख की जाए। देख-रेख, सुरक्षा एवं परिपोषण की व्यवस्था न बन सकी तो श्रम का अधिकांश भाग सरकारी प्रयासों की भाँति निरर्थक चला जाएगा और अंततः असफलता हाथ लगेगी। प्रत्येक परिवार अपने हिस्से का दायित्व संभाल ले, वृक्ष लगाने और उसे परिपक्व स्थिति तक पहुँचाने का क्रम चल पड़े तो कुछ ही वर्षों में अनिवार्य वृक्ष संपदा सीमा को ३३ प्रतिशत तक पहुँचाया जा सकता है। एक आम जैसे सामान्य वृक्ष को तैयार होने में लगभग १० वर्ष का समय लग जाता है। इसी वर्ष यह कार्य आरंभ कर दिया तो सन् १९९० तक अनिवार्य पर्यावरण संतुलन के लिए अनिवार्य वृक्ष संपदा का ३३ प्रतिशत लक्ष्य पूरा हो सकता है।

अपने यहाँ पुरातन काल से ही वृक्षारोपण के प्रति जन श्रद्धा रही है। उसे पुनः जगाया जाना आवश्यक है जो धनाभाव एवं बौद्धिक क्षमता के अभाव में यह रोना रोते रहते हैं कि समाज के

लिए कुछ कर पाने में असमर्थ हैं,उनके लिए सर्वश्रेष्ठ सेवा का मार्ग वृक्षारोपण का हो सकता है। एक वृक्ष लगाकर तैयार कर देने का अर्थ है देश के लिए ३० हजार रुपए प्रतिवर्ष तथा ५० वर्ष की अवधि में पंद्रह लाख रुपए तथा सौ वर्षों में ३० लाख रुपए कीमत की पर्यावरण अनुकूलन के लिए आवश्यक सामिग्री जुटा देना। यह सेवा हर कोई कर सकता है, जिसके लिए न तो विशेष धन की आवश्यकता है न ही विशिष्ट योग्यता की। धनी, गरीब, बुद्धिमान, अल्पबुद्धि, साक्षर, निरक्षर सभी इस कार्य को सरलता से संपन्न कर सकते हैं। आवश्यकता इतनी भर है कि इसका महत्त्व समझा और समझाया जाए और जन-जन में वृक्षारोपण के प्रति उत्साह पैदा किया जाए। एक व्यक्ति का अपने हिस्से का १२ वृक्ष तैयार कर देने का अर्थ होगा एक करोड़ ८० लाख रुपए की ऐसी प्रकृति संपदा जुटा देना जिससे समाज ५० वर्षों तक निरंतर प्राणवायु, वर्षा, वातावरण परिशोधन, भूमि की उर्वरक क्षमता में वृद्धि जैसे अनेकों अनुदानों से लाभान्वित हो सकता है। इतनी बड़ी धनराशि के बराबर प्राणी समुदाय की सेवा कर सकना थोड़े प्रयत्नों द्वारा हर किसी के लिए संभव है। इन प्रयासों के द्वारा ही पर्यावरण संतुलन बनेगा। देश की प्रगति और समृद्धि भी इस संतुलन पर.अवलंबित है। स्वार्थ और परमार्थ का, भौतिक और आध्यात्मिक लाभों का दुहरा प्रयोजन पूरा करने वाले वृक्षारोपण जैसे पुनीत कार्य की दिशा में अविलंब कदम उठना चाहिए।

◆

पर्यावरण चक्र को तोड़ें नहीं संजोएँ

सतत परिभ्रमणशील जीवन चक्र के अनेकों सहयोगी घटक हैं। जीव, जंतु, वृक्ष, वनस्पति, पृथ्वी, नदियाँ, समुद्र पर्वत आदि का सह-अस्तित्व परस्पर एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। नन्हें कीड़े-मकोड़े तथा हरीतिमा वृद्धि करने वाले क्षुप, घास, बेल निरर्थक और अनुपयोगी जान पड़ते हैं पर वे भी जीवन चक्र के अनिवार्य घटक हैं। आवश्यक नहीं हैं कि वे मनुष्य की उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरें पर इकॉलाजिकल संतुलन की दृष्टि से प्रकृति के नगण्य-से-नगण्य घटकों का भी विशेष महत्त्व है। जीवन चक्र को गतिशील रखने तथा प्रकृति का संतुलन बनाए रखने में उनकी एक सुनिश्चित भूमिका है। सितार के तारों की भाँति छोटे-बड़े सभी जड़ चेतन घटक एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़कर जीवन के विभिन्न सरगम छेड़ते हैं। जिस तरह सितार की एक कड़ी भी टूटी होने पर उससे सुमधुर स्वर लहरी निकल पाना कठिन है, उसी प्रकार प्रकृति की जीवन शृंखला से जीवों वनस्पतियों की किसी भी कड़ी का टूटना हानिकारक है, जो समूचे चक्र को प्रभावित करता है।

इकॉलाजी शास्त्र के मर्मज्ञों का निष्कर्ष अब उपरोक्त सिद्धांत के निकट पहुँच रहा है। यह तथ्य सभी विशेषज्ञों द्वारा स्वीकारा जा रहा है कि अनगढ़ होते हुए भी प्रकृति के आंगन में कोई भी वस्तु निरर्थक नही है। हर संरचना कुछ विशेषता लिए हुए है। संभव है एक प्रकार के जीव समुदाय के लिए वह हानिकारक हो पर वही दूसरे के लिए अति उपयोगी हो सकती है। अस्तु, उपयोगिता-अनुपयोगिता का निर्धारण करना मनुष्य का काम नहीं, स्वसंचालित व्यवस्था द्वारा नियंत्रण कार्य संभालने वाली प्रकृति का है। मनुष्य

जब इस संचालन व्यवस्था में अनावश्यक हस्तक्षेप करता है तभी समस्या खड़ी होती है और संपूर्ण व्यवस्था लड़खड़ाती है। सौंदर्य सुषमा और सुगढ़ता बढ़ाने तक वह अपनी चेष्टाएँ सीमित रखे तो ही अच्छा है अन्यथा तो सृष्टि चक्र की व्यवस्थित गतिशीलता में व्यतिरेक ही उत्पन्न होता है जो अनेकों प्रकार की असंतुलन जन्य विभीषिकाओं को जन्म देता है।

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इकॉलाजी के संपादक डॉ० एस०सी० बेनहार्ड ग्रिजमेक अपनी एक पुस्तक के प्राक्क्थन में लिखते हैं कि इकॉलाजी शास्त्र के दीर्घ कालीन अध्ययन के उपरांत मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आज सबसे अधिक आवश्यकता ज्ञान के विस्तृत भंडार में तालमेल एवं संतुलन बिठाने की तथा विशेषकर पारिस्थितिकी संतुलन स्थापित करने की है। वे लिखते हैं कि हम सभी विराट सृष्टि के अभिन्न अंग हैं। जीव-सृष्टि, वनस्पतियाँ, विशाल सागर, अंतरिक्ष, उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव आदि सभी परस्पर एक दूसरे से बँधे हुए हैं, जिनके फलस्वरूप पृथ्वी पर जीवन का प्रादुर्भाव संभव हो सका तथा गतिशील है। जीवन शृंखला की अनेकों कड़ियाँ हैं। अविच्छिन्न जीवन प्रवाह के लिए यह आवश्यक है कि समस्त कड़ियाँ अपना अस्तित्व बनाए रहें। विश्व व्यवस्था के सुसंचालन के लिए पृथ्वी पर विभिन्न जातियों—वनस्पति एवं जीव सृष्टि का यथावत बना रहना आवश्यक है। अज्ञानवश मनुष्य ने विश्व शृंखला की कितनी ही कड़ियों को तोड़ डाला, परिणाम स्वरूप अनेकों प्रकार के प्राकृतिक असंतुलन पैदा हुए हैं।

इकॉलाजिकल कन्जर्वेशन थ्योरी के विशारदों का कहना है कि प्रकृति संतुलन के लिए यह अनिवार्य है कि उसके प्रत्येक छोटे-बड़े घटकों को महत्त्व दिया जाए तथा उसकी सुरक्षा की जाए। प्रकृति की कोई वस्तु निरुपयोगी नहीं है। मृत शरीर के मल मूत्र निरर्थक मालूम पड़ते हैं पर उनका भी प्रकृति सुनियोजन करके पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में काम ले लेती है। कन्जर्वेशन

सिद्धांत के समर्थकों ने 'लीव और लेट लीव'—का नारा दिया है तथा कहा है कि सुव्यवस्था एवं सुसंतुलन के लिए सर्वाधिक ध्यान कन्जर्वेशन—संरक्षण की ओर दिया जाना चाहिए। इससे बढ़ते हुए प्रदूषण की रोकथाम में भी मदद मिलेगी। कितने ही नन्हे जीवों की जातियाँ ऐसी हैं जो प्रदूषण निवारक का कार्य बड़ी ही कुशलता से करती हैं। उनके विषय में विशद अध्ययन करने की जरूरत है ताकि उनसे समुचित लाभ उठाया जा सके। 'दी इंटरनेशनल यूनियन फार दि कन्जर्वेशन ऑफ नेचर' जिसका कार्य विश्व के वनस्पति एवं प्राणि सृष्टि को संरक्षण देना है, ने दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं—'रेडडेटा बुक' और 'ब्लैक बुक'। ब्लैक बुक में उन जातियों के विवरण दिए गए हैं जिन्हें सोलहवीं शताब्दी के बाद निर्मूल कर दिया गया। सोलहवीं सदी में स्तन पाई प्राणियों की ४२२६ जातियाँ थीं जिनमें से सैंकड़ों निर्मूल हो गईं तथा १२० जातियों का शीघ्र ही अस्तित्व समाप्त होने वाला है। सोलहवीं सदी में पक्षियों की ८६८४ जातियाँ थीं जिनमें ११० नष्ट हो गईं तथा १८७ का मात्र नामोनिशान बाकी रह गया है। कुछ ही दिनों में वे विलुप्त हो जाएँगी। रेड डेटा बुक के अनुसार ऐसी २५ जातियों की सूची बनाई गई है जिन्हें थोड़े प्रयत्नों द्वारा विलुप्त हो जाने से बचाया जा सकता है।

आई०यू०सी०एन० संस्था के शोधार्थियों ने मनुष्य और प्रकृति के परस्पर अवलंबन पर विशेष जोर दिया है। उनका मत है कि प्रकृति ने लाखों वर्षों के अनुभव के बाद विभिन्न जटिल परिस्थितियों में टिकने की क्षमता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार के जीन्स से बने जीव सृष्टि की रचना की थी। मनुष्य ने अपनी नासमझी के कारण निर्भयता से प्रकृति की बहुमूल्य संपदा एवं जीव सृष्टि को विनष्ट कर दिया है। असंतुलन इसी अदूरदर्शिता का दुष्परिणाम है। नन्हें जीव-जंतुओं तथा अन्य जीवों की सुरक्षा के लिए अमेरिकी फेडरल गर्वनमेंट की सहायता से आई०यू०सी०एन० जैसी संस्था ने ३ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि में एक अभयारण्य का निर्माण किया है जिसमें जीव सृष्टि

की सुरक्षा, उपयोगिता एवं उपादेयता पर विशद अध्ययन किया जाता है। ऐसे अभयारण्य अन्य स्थानों में भी बनाए जा रहे हैं। रूस में ८०, ग्रेट ब्रिटेन तथा आस्ट्रेलिया में ७०, फ्रांस में १७ अमेरिका तथा कनाडा में ३४० की संख्या में बन रहे हैं।

संबंद्ध शोध संस्थान में इकालॉजी पर शोधरत वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि अधिक खाद्यान्न उत्पादन के लिए आधुनिक रासायनिक खादों का उपयोग करने की अपेक्षा विभिन्न जीव सृष्टि-बैक्टीरिया, कीट, पतंग आदि की सहायता ली जानी चाहिए। वनस्पतियों को रोगों से बचाने के लिए जंतुनाशक दवाओं के उपयोग के स्थान पर ऐसी जीव सृष्टि का विकास करना चाहिए जो इन रोग कीटाणुओं को स्वयं नष्ट कर देते हों। ऐसा करने से रासायनिक खादों और जंतु नाशक दवाओं पर होने वाले अत्यधिक व्यय तथा वायु जल प्रदूषण आदि के रूप में पैदा होने वाली विभीषिकाओं से सहज ही बचाव संभव है। दुर्भाग्यवश मनुष्य की दृष्टि अपने सजातियों के संरक्षण तक सीमित रह गई है जबकि जंगली जीवों, वनस्पतियों, जल, वायु के संरक्षण को भी मानवीय संरक्षण का एक अभिन्न अंग माना जाना चाहिए।

जीव एवं वनस्पति सृष्टि का अस्तित्व परस्पर एक दूसरे के ऊपर टिका हुआ है। एक के नष्ट होने से दूसरा भी प्रभावित होगा। पौधों के उगने-बढ़ने, जनन एवं विस्तार के लिए वातावरण के अनेकों घटकों पर निर्भर रहना पड़ता है। उनके विकास एवं परिपोषण में छोटे-बड़े जीव-जंतुओं का भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग जुड़ा हुआ है। दोनों मिल-जुलकर एक अभिन्न इकॉलाजिकल सिस्टम—पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना करते हैं। तंत्र के किसी भी भाग में परिवर्तन उस समस्त तंत्र पर प्रभाव डालता है। पौधों जानवरों तथा वातावरण के युग्म से विनिर्मित होने वाले इकॉलाजिकल सिस्टम के अनेकों स्वरूप हो सकते हैं। यह अत्यंत छोटा हो सकता है और बड़ा भी। उदाहरणार्थ 'वृक्ष' सूर्य के

प्रकाश से ऊर्जा ग्रहण करता है तथा हवा तथा मिट्टी से लिए गए अकार्बनिक तत्त्वों को मिलाकर ऊर्जा से परिपूर्ण रासायनिक पदार्थ बनाता है। इस वृक्ष पर रहने वाले अनेकों पक्षी उसकी छाया में बसेरा पाते हैं तथा फलों को खाकर अपनी क्षुधा शांत करते और शरीर की रक्षा करते हैं। कुछ अन्य जंतुओं का आहार चिड़ियाएँ हैं। उस तरह शाकाहारी, मांसाहारी जीवों का परिपोषण तथा उनके मृत शरीर से वनस्पतियों का विकास तथा उस शृंखला में पृथ्वी, वायु, जल एवं प्रकाश का योगदान एक अविच्छिन्न चक्र का परिचय देता है। लकड़ी आदि के लिए कोई एक वृक्ष भी काटता है तो उपरोक्त प्रक्रिया के अनुसार एक समग्र शृंखला को तोड़-मरोड़ देता है।

इकोसिस्टम के अन्य स्वरूप भी प्रकृति में सतत चलते रहते हैं। वनों में हरे पौधों को हिरण चरते हैं। उनका शिकार बाघ, शेर, चीते करते हैं। चीतों, बाघों को मार दिया जाए तो हिरणों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होगी और वनों का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। हिरणों को मार देने से माँसाहारी जीव अपनी जीवन की रक्षा नहीं कर सकेंगे और असमय दम तोड़ देंगे। इसी प्रकार किसी घास के मैदान में घास को खाने वाले टिड्डी, टिड्डी को खाने वाले मेंढ़क, मेंढ़क को खाने वाले सर्प और सर्प का भक्षण करने वाले पक्षी—चील, मोर अथवा बाज को भी अन्य बड़े जीव उदरस्थ कर जाते हैं। जो मारे नहीं जाते उनके शरीर मृत अवस्था में भूमि में मिलकर उसकी उर्वरता को बढ़ाते हैं।

प्राणी पौधों के परागण, फल तथा बीजों के प्रकीर्णन, मृदा की उर्वरता वृद्धि, सहजीविता, प्राकृतिक स्वच्छता तथा जैव नियंत्रण आदि रूपों में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। विविध प्रकार के कीट विभिन्न जाति के पौधों के पुष्पों से भोजन परागकण आदि के रूप में प्राप्त करते तथा परागण की क्रिया संपन्न करते हैं जो फल एवं बीजों के लिए अनिवार्य है। फलों तथा बीजों के सुदूर क्षेत्रों में विस्तार करने में प्राणियों का बहुत बड़ा हाथ है। पक्षी, बंदर,

गिलहरी, पशु आदि विविध प्रकार के रसीले अथवा सूखे फलों को खाने के बाद उनके बीजों को अपने मल के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते रहते हैं। चरते हुए पशुओं जैसे गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि के शरीर पर चिपक कर बीज अनेकों स्थानों पर विस्तृत होते रहते हैं। लाखों की संख्या में छोटे-बड़े प्राणी मरकर भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं। मिट्टी के अंदर घर बनाकर रहने वाले प्राणी जैसे कीट, दीमक, चींटी, केंचुएँ आदि मिट्टी के ऊपर नीचे पोला बनाकर उसकी उर्वरता में अभिवृद्धि करते हैं। इससे बीजों के अंकुरण में सहयोग मिलता है।

प्रकृति ने लाखों करोड़ों वर्षों से इस भूमंडल को संजोया है। अधिक अच्छा यह होगा कि उसे अपना कार्य स्वसंचालित व्यवस्था द्वारा करने दिया जाए। उस चक्र को न भंग किया जाए जिस पर प्राणियों एवं वनस्पतियों का अस्तित्व टिका हुआ है। जड़ और चेतन की युग्म इस मनोरम सृष्टि में जड़ प्रकृति का अपना महत्त्व है और चेतनाधारी जीवों का अपना। जड़ का सौंदर्य चेतना की चैतन्यता की अभिव्यक्ति है जो दोनों के अभिन्न और अन्योन्याश्रित संबंधों को व्यक्त करता है। मानवीय हस्तक्षेप प्रकृति को सुरम्य और चेतना को सुविकसित करने तक ही उचित है। इस सीमा रेखा का उल्लंघन करने से और अदूरदर्शिता का कदम उठाने से इकॉलाजिकल चक्र में व्यक्तिरेक उत्पन्न होता है, जिसकी परिणति विविध प्रकार की समस्याओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है।

जड़ प्रकृति को ही लें तथा उसकी स्थिति का विश्लेषण करें तो मालूम होगा कि तथाकथित प्रगति के नाम पर मनुष्य ने उसके जितनी छेड़छाड़ की है उससे लाभ कम और हानि अधिक हुई है। दुर्भाग्यवश समृद्धि का मापदंड भी प्रत्यक्ष सीमित भौतिक उपलब्धियों के आधार पर ही आँका जाता है। संतुलित पर्यावरण के असीम होते हुए भी परोक्ष वातावरण संबंधी दैवी उपलब्धियों को भौतिक लाभों के रूप में मानने की परंपरा नहीं है। मनुष्य ने उन परोक्ष अनुदानों

का महत्त्व समझा होता और उसका सही मूल्यांकन किया होता तो कभी भी प्रकृति को इतना अधिक छेड़ने का दुस्साहस नहीं होता, पर उसे दुर्बुद्धि ही कहना चाहिए कि मनुष्य जाति ने तात्कालिक लाभों के समक्ष विपुल दूरगामी लाभों को ठुकरा दिया और प्रकृति के दोहन के अदूरदर्शी प्रयासों के दुष्परिणामों से स्वयं बचा न रह सका। समस्त विश्व के समक्ष प्रस्तुत होने वाली अनेकानेक प्रकार की प्राकृतिक विभीषिकाएँ वस्तुत: मानवी दुष्कृत्यों और अदूरदर्शी प्रयासों के ही प्रतिफल हैं।

यह तो रहा जड़ प्रकृति में अनावश्यक छेड़छाड़ का प्रतिफल, जो मौसमी व्यतिरेकों, बाढ़, सूखा, भूकंप, भूस्खलन और उनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप फैलने वाली अनेकों तरह की आधि-व्याधियों के रूप में समूचे विश्व में दृष्टिगोचर हो रहा है। जड़ तो जड़ है पर चेतना जीव संवेदनाओं से युक्त है। मनुष्य चैतन्य जीवों में क्षमताओं की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। बुद्धि बल के बलबूते उसका प्राणि जगत पर आधिपत्य है। अन्य जीवों को भी अपनी ही भाँति सृष्टि का एक आवश्यक और अभिन्न घटक मानकर यदि जीने का अधिकार मनुष्य ने दिया होता अथवा उन्हें स्वच्छंद जीने के लिए छोड़ दिया होता तो यह विश्व कहीं अधिक सौंदर्य से युक्त दिखाई पड़ता। पर मनुष्य की आंतरिक क्रूरता का शिकार बनने लगे निरीह वन्य प्राणी। कुछ जातियाँ शिकार के मनोरंजन के लिए मारी गईं तो कुछ विकृत मांसाहार के स्वाद के कारण मनुष्य के पेट में जा पहुँची। कुछ को आधुनिकता की बढ़ती हुई माँग के कृत्रिम संसाधनों के निर्माण में तड़प-तड़प कर अपने प्राण गँवाने पड़े, इस निष्ठुर प्रक्रिया के कारण इस विश्व-वाटिका से विभिन्न जीवों की कितनी ही जातियाँ प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं।

जीव विशेषज्ञों के अनुसार अपने देश में पाँच सौ से भी अधिक प्रजाति के जानवर, तीन हजार से भी अधिक पक्षी तथा तीन हजार से भी अधिक किस्म के नन्हें कीड़े-मकोड़े पाए जाते थे। जानवरों में ३५

प्रजातियों का तो वर्षों पूर्व से अस्तित्व समाप्त हो चुका है। कुछ वर्षों पूर्व तक हिमालय के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में भूरे रंग के बटेर पक्षी की बहुलता थी पर इस क्षेत्र में भी शिकारियों की घुस पैठ होने से उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। लंबी पूँछ और लाल चोंच वाली इस जाति के पक्षियों की सुंदरता देखते बनती थी। हिमालय के तराई क्षेत्र में गुलाबी सिर वाले दुर्लभ बत्तख पाए जाते थे जो विश्व के अन्य किसी भी स्थान पर नहीं मिलते। अभी तीन दशक पूर्व तक ये हिमालय के अंचल में निर्द्वंद विचरते दिखाई भी पड़ते थे पर अब इनका नामोनिशान नहीं मिलता। राष्ट्रीय संग्रहलयों में मात्र इनके अवशेष देखे जा सकते हैं। आंध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों तथा गोदावरी तट पर इस सदी के आरंभ में कोर्स नामक पक्षी मिलते थे पर अब उस जाति का एक भी पक्षी नही दिखाई पड़ता।

पक्षियों के अतिरिक्त जंगलों में रहने वाले शेरों, चीतों, बाघों, बारहसिंघों, हिरनों आदि की संख्या भी तेजी से घटती जा रही है। मध्य प्रदेश के बीहड़ शेरों के लिए विख्यात थे। उनकी संख्या अभी एक दशक पूर्व हजारों में थी पर एक रिपोर्ट के अनुसार अब मात्र चार सौ के लगभग रह गई है। बारहसिंघों का तो मात्र नामोनिशान रह गया है। सरकारी कानूनों द्वारा जंगली जानवरों का शिकार करना यों तो अब अवैध घोषित कर दिया गया है, पर चोरी छिपे उनके शिकार का क्रम अभी बना हुआ है। नागालैंड में औसतन प्रतिदिन पाँच शेर मारे जाते हैं। खरगोश, लोमड़ी, सियार, हिरण तो प्रतिदिन हजारों की संख्या में मारे जाते हैं। वन्य विशेषज्ञों का मत है कि तीव्रता से वन्य जीवों की संख्या में ह्रास का एक कारण यह है कि प्रकृति सौंदर्य को बढ़ाने वाले ये सुन्दर जीव अब मानवी क्रूरता के शिकार होकर धनोपार्जन के साधन बन गए हैं। जापान, स्वीडन, डेनमार्क, आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि देशों को इनका बड़ी संख्या में लुक-छिपकर निर्यात हो रहा है। लंगूर बंदरों की संख्या भी अब तेजी से देश में घटती जा रही है। ऐसा अनुमान है कि विकास क्रम में मनुष्य के अधिक नजदीक होने के

कारण वैज्ञानिकों को मानवी प्रकृति एवं शरीर संस्थान के सूक्ष्मतम परिवर्तनों को समझने एवं अंगों के प्रत्यारोपण में इनके माध्यम से अधिक सुगमता होती है।

इकॉलाजी विशारदों का निष्कर्ष है कि प्रकृति संतुलन की प्रक्रिया सृष्टि के संपूर्ण परिसर तथा जीवों के परस्पर सघन अनुबंधों पर निर्भर करती है। जड़ चेतन के प्रत्येक पेड़, पौधे, वनस्पतियाँ, ऑक्सीजन, जल, प्रकाश तथा पशु-पक्षी, जीव-जंतु मनुष्य सभी एक विराट जीवन चक्र के अभिन्न अंग हैं। परस्पर सबका एक दूसरे से घनिष्ट संबंध है। जड़ और चेतन के संयोग से ही पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व है। पौधे मिट्टी से अपनी जड़ों द्वारा सांद्रता खींचते हैं। हवा और रोश्नी मुक्त हस्त से पौधे को अपना अनुदान देते हैं। जिसे पीकर पौधे परिपोषित और विकसित होते हैं। पशु और मनुष्य का वह आहार बनते हैं। गंदगी के रूप में विजातीय तत्त्व अंततः मिट्टी में मिलकर उसे उर्वरा बनाते हैं। पौधे के सूखे बीज, फूल, पत्तियाँ भी झड़कर मिट्टी में गिरते रहते हैं। एक निश्चित समयावधि के उपरांत प्राणी और पौधे दोनों ही जराजीर्ण होकर मिट्टी में मिल जाते हैं। मिट्टी में नन्हें जीव जंतु और बैक्टीरिया उन अवशेष पदार्थों को खाते हैं तथा अंततः पौधों के लिए अपने मल-मूत्र एवं मृत शरीर द्वारा खुराक तैयार करते हैं। मांसाहारी जीवों का भी एक स्वसंचालित चक्र चलता रहता है। जिन जीवों का बाहुल्य होता है, वे दूसरों का आहार बनते हैं। उनकी अभिवृद्धि का नियंत्रण इकॉलाजीकल चक्र के घटक जीव स्वयं करते हैं। चिड़ियाएँ कीड़े-मकोड़े खाती रहती हैं तथा उनकी बेशुमार वृद्धि पर नियंत्रण रखती हैं। मेढ़क, मच्छर जैसे नन्हें कीड़ों को खाता है और अंततः स्वयं भी सांप का ग्रास बन जाता है, चूहों की वृद्धि बाज, बिल्ली और साँप रोकते हैं। मोर का आहार साँप है। शेर, हिरन, सुअर, खरगोश आदि जंगली जीवों का भक्षण करता है। यह एक मांसाहारी जीवों का चक्र है जिसमें एक मारता है और अंततः स्वयं भी मारा जाता है। मनुष्य इस जैविक चक्र के बाहर आता है।

चाहिए।

पर मनुष्य द्वारा इस संतुलित चक्र को निरंतर भंग किए जाने के कारण कितने ही प्रकार के संकट प्रस्तुत होने की संभावना बन गई है। पक्षियों का यदि शिकार इसी प्रकार होता रहा तो कुछ ही वर्षों में वनस्पतियों के लिए हानिकारक कीड़े मकोड़ों की संख्या में तीव्र गति से वृद्धि होगी। संभव है उनसे वृक्ष वनस्पतियों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाए। सर्पों को नष्ट कर देने से चूहों की मात्रा बढ़ जाएगी जो फसलों के लिए अत्यंत ही हानिकारक हैं। हिंसक जीवों में शेर, बाघ आदि को भी मारना इसलिए उचित नहीं है कि वे भी संतुलन क्रम में अपने स्तर का सहयोग देते हैं। स्वास्थ्य एवं स्वच्छता की दृष्टि से भी कितने ही जीवों की प्रकृति के परिसर में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गिद्ध, चील, गीदड़ आदि मृत जीवों को खाकर गंदगी एवं महामारी फैलने से बचाते हैं। श्रमजीवी प्राणियों में तो गाय, बैल, भैंस, घोड़े, खच्चर आदि का असाधारण महत्त्व है, वे जितना खाते हैं, उसका हजार गुना अधिक मनुष्य जाति को लाभ पहुँचाते हैं। जीवित हालत में उन्हें मांस एवं चमड़े के लिए बूचड़खाने में भेज देना मानवी क्रूरता का ही परिचायक है।

थोड़े से भौतिक लाभों के लिए जीव-जंतुओं का हनन मानवीय गरिमा के भी विरुद्ध है। उपयोगिता वाद की बौद्धिक कसौटी पर उपरोक्त प्रतिपादन गले न उतरें तो भी एक पक्ष ऐसा है जो हर मनुष्य की अंत: संवेदनाओं को झकझोरता है। इस तथ्य से कोई इंकार नहीं कर सकता कि भाव संवेदनाओं की दृष्टि से मनुष्य जाति शुष्क एवं अंतरंग की दृष्टि से निष्ठुर होती जा रही है। सूक्ष्म दर्शियों का मत है कि प्राणियों के हनन से परोक्ष वातावरण विक्षुब्ध होता जा रहा है, जिसकी प्रतिक्रिया मनुष्य की घटती भाव संवेदनाओं के रूप में दिखाई पड़ रही है। उजड़ती हुई मूक प्रकृति बुद्धिमान कहलाने वाले मनुष्य से बिलखती हुई माँगकर रही है कि उसे अब और न उजाड़ा जाए। ◆

ऊर्जा संकट के समाधान की दिशा में कुछ उपयोगी सुझाव

सभ्यता के आदिम युग में अग्नि का आविष्कार नहीं हुआ था। तब ईंधन के बिना भी मनुष्य का काम चल जाता था। अग्नि जलाने की तरकीब हाथ लगते ही ईंधन के प्रयोग की परंपरा चल पड़ी। आज स्थिति यह है कि उसके बिना दैनंदिनी जीवन के क्रिया कलाप चलने मुश्किल हैं ? भोजन पकाने, पानी गर्म करने, कूलर, हीटर चलाने जैसे छोटे-छोटे घरेलू कार्यों से लेकर विशालकाय उद्योगों तथा यातायात वाहनों के परिचालन में विपुल ऊर्जा की जरूरत पड़ती है। व्यापक औद्योगीकरण के कारण स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि सारे संसार को ऊर्जा के गंभीर संकट के दौर से गुजरना पड़ रहा है। प्रस्तुत समस्या से विश्व के सभी देश चिंतित हैं। हल निकालने के लिए विश्व के कोने-कोने पर ऊर्जा सम्मेलन आयोजित हो रहे हैं। ऊर्जा स्रोतों के तेजी से चुकने से वैकल्पिक ऊर्जा—सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, नाभिकीय ऊर्जा, वायोगैस, समुद्री लहरों की ऊर्जा के कितने ही प्रयोग सुझाए एवं किए जा रहे हैं। ऐसे प्रयास आवश्यक हैं और प्रशंसनीय भी। परंपरागत ऊर्जा स्रोतों के अधिक दोहन की बात अदूरदर्शी ही नहीं खतरनाक भी है। कोयला पेट्रोलियम आदि की मात्रा सीमित है। लकड़ी के लिए वनों की कटाई को अब पर्यावरण विशेषज्ञों ने अत्यंत हानिकारक बताया है।

इन परिस्थितियों में नए ऊर्जा साधन ढूँढ़ना, जितना आवश्यक है, उतना ही जरूरी यह भी है कि अनियंत्रित उपयोग पर अंकुश लगाया जाए। उपार्जन ही नहीं खर्च पर नियंत्रण भी अनिवार्य है।

दैनिक जीवन में खाना पकाने से लेकर वाहन आदि में ऊर्जा की कितनी अतिरिक्त मात्रा व्यर्थ नष्ट होती रहती है, इस पर थोड़ा ध्यान दिया जाए तो उसकी रोकथाम हो सकती है। एक विश्लेषण के अनुसार भोजन पकाने में लकड़ी, कोयला, तेल, गैस आदि का जो परंपरागत तरीका है वह त्रुटिपूर्ण है। देहातों में प्राय: शत प्रतिशत व्यक्ति लकड़ी से ही भोजन पकाते हैं। प्रयोग विधि की अज्ञानता के कारण ऊर्जा की साठ प्रतिशत मात्रा बेकार चली जाती है। मात्र चालीस प्रतिशत काम आती है। ईंधन की बचत के लिए ऐसे चूल्हों का विकास हो सकता है जिससे ऊर्जा की बर्बादी की रोकथाम हो सकती है। परंपरागत तरीके से अलग हटकर ऐसे चूल्हे बनाए जा सकते हैं जिनमें प्रयुक्त ईंधन का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। मशीनी चूल्हे का एक प्रयोग नई तकनीक के रूप में कुछ वर्षों पूर्व किया गया था। उसमें कुछ गुण थे और कुछ कमियाँ भी। उसमें थोड़ा सुधार करके ईंधन की बचत करने वाले नए तरह के चूल्हे बनाए जा सकते हैं। इस दिशा में कुछ व्यक्तियों के प्रयास उत्साहवर्धक हैं। 'सोशल वर्क एंड रिसर्च सेंटर' हिसार के तत्त्वावधान में धुएँ से रहित ऐसे चूल्हे का निर्माण किया गया है जिसमें ऊर्जा की वह मात्रा जो व्यर्थ चली जाती है, का अधिकाधिक उपयोग हो जाता है। चंडीगढ़ से १५ कि०मी० दूर शिवालिक पहाड़ियों के निकटवर्ती कितने ही गाँवों में ग्रामवासी ऐसे ही चूल्हे का प्रयोग करते हैं जिसमें प्रचलित चूल्हे में लगने वाले ईंधन से एक चौथाई में काम चल जाता है। ईंधन का अधिकांश ताप भोजन पकाने, पानी गरम करने आदि में प्रयुक्त हो जाता है, चूल्हे का ताप नियंत्रित और संचित रहता है। देश में प्रतिवर्ष १३ करोड़ टन लकड़ी की खपत मात्र भोजन पकाने में होती है। चूल्हे में परिवर्तन करके उस खपत की आधी से अधिक बचत आसानी से की जा सकती है।

खान-पान की बुरी आदतों के कारण भी ईंधन की खपत अधिक होती है। स्वाद के लिए विविध प्रकार के व्यंजन बनाए

जाते हैं। संतुलित पोषण के लिए भोजन में प्रोटीन, विटामिन, कार्बोहाइड्रेट, फैट, चिकनाई आदि तत्त्वों का सम्मिश्रण आवश्यक तो है पर यह जरूरी नहीं है कि उनकी प्राप्ति के लिए हर खाद्यान्न को, साग-सब्जी, दाल को अलग-अलग पकाया जाए। ढेरों और प्रचुर ईंधन की बर्बादी इस कारण होती है। मुँह में जाने के बाद तो सभी पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं। जायका जीभ तक सीमित रहता है। पेट भरने और पोषण प्राप्त करने से उसका कोई संबंध नहीं है। जीभ की परितृप्ति भी कुछ सैकेण्ड होती है। मात्र इतने के लिए कितने सार-सरंजाम जुटाने पड़ते हैं। तलने, भूनने एवं विविध पकवानों के बनाने में समय, श्रम, पैसा तथा विपुल ईंधन का अपव्यय होता है। रोटी और चावल का सम्मिश्रण नहीं बन पाता अन्यथा अन्यान्य सभी खाद्यान्न, दालें, सब्जियाँ मिलाकर एक साथ पकाए जा सकते हैं। प्राचीन काल में अमृताशन (खिचड़ी) पकाने खाने के पीछे आध्यात्मिक के साथ-साथ ऋषियों की सूक्ष्म दृष्टि इस बात पर भी रही होगी कि कम से कम खर्च में अधिक से अधिक पोषण प्राप्त किया जाए। ऊर्जा की बचत के लिए एक पद्धति यह भी काम में लाई जा सकती है। अभ्यस्त खान-पान के विकृत ढर्रे के कारण स्वास्थ्य की बर्बादी करते समझदार और नासमझ दोनों स्तर के व्यक्ति देखे जाते हैं। कम-से-कम हर व्यक्ति को आर्थिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से तो उस ढर्रे को बदलने के लिए अपने आपको तैयार करना चाहिए।

कुकर पर पकाने से भी लगभग पचास प्रतिशत ईंधन की बचत होती है। अमृताशन जैसे सम्मिश्रित पोषक आहार पकाने का क्रम यदि इस क्रम में और भी होने लगे तो बचत का प्रतिशत पचहत्तर तक पहुँच सकता है। अर्थात आज हर व्यक्ति भोजन पकाने में जितना ईंधन खर्च करता है, उसके एक चौथाई में उसका दैनिक जीवन का काम चल सकता है। इस तरह एक वर्ष में भोजन पकाने में जितना ईंधन लगता है मात्र उतने से चार गुने समय तक

देश की पूरी जनसंख्या का काम चल सकता है। थोड़ी सावधानी, थोड़ा संयम और थोड़ी विधि व्यवस्था में हेर-फेर से इतनी बड़ी बचत हो सकती है जिसकी प्राय: कल्पना भी नहीं की जाती।

यह कहा जा सकता है कि देश की पचहत्तर प्रतिशत जनता देहातों में रहती है और वह अत्यंत गरीब है। संभव है उनमें से कितने ही कुकर खरीदने में असमर्थ हों, पर ऐसा सोचना इसलिए निराधार है कि हारी-बीमारी, शादी-ब्याह, पर्वों आदि पर गरीब-से-गरीब भी अपने स्तर के अनुरूप खर्च करते हैं। बचत के लिए उन्हें समझाया जा सके तो हर व्यक्ति क्रमश: छोटी-छोटी बचतों द्वारा ऐसे कुकर बनवा सकता है जिससे परिवार का काम चल जाए।

मृत्योपरांत जलाने की परंपरा हिन्दू धर्म में है, वह हर दृष्टि से वैज्ञानिक है। पर जिस ढंग से मृतक जलाए जाते हैं उसमें ईंधन अधिक लगता है। कृषि एवं ऊर्जा विभाग उ०प्र० के सचिव श्री जे०एस० पंत के निर्देशन में एक नयी विधि निकाली गयी है जिससे साठ प्रतिशत ईंधन की बचत की जा सकती है। मृतक को लिटाकर जलाने की जगह मात्र उसे बिठा कर जलाने जैसा परिवर्तन करना पड़ता है। संबंध मंत्रालय द्वारा ऐसे मॉडल्स भी बनाए गए हैं। जिनसे जानकारी मिलती है कि मृतक को जलाने में लकड़ी की खपत को अत्यंत कम किया जा सकता है। औचित्य को ध्यान में रखकर किसी भी धर्मानुयायी को परंपरागत तरीके—शयन मुद्रा में ऐसा करने के लिए दुराग्रह न करना ही श्रेयस्कर है। मात्र थोड़े हेर-फेर से ढेरों ईंधन की बचत संभव है।

भोजन के बाद ईंधन की अधिक खपत वाहनों में होती है। तेज वाहनों के प्रचलन को आज के युग में सर्वथा बंद कर देना तो संभव नहीं है, पर कुछ कार्य ऐसे हो सकते हैं जो मंद गति से चलने वाले वाहनों से भी किए जा सकते हैं। जिनमें पेट्रोलियम ऊर्जा नहीं लगती है। भारत में पशुओं की संख्या लगभग २३ करोड़ है। बैलों की संख्या लगभग आठ करोड़ है। विकासशील देशों की दो अरब

जनसंख्या ४० करोड़ पशुओं पर कृषि और यातायात के लिए निर्भर है। औसतन इन देशों में पचास प्रतिशत कार्य पशुओं द्वारा कृषि एवं यातायात के लिए कराया जाता है। इन पशुओं का बाजार मूल्य ३ से ४ खरब रुपए है तथा इनसे दो करोड़ हार्स पावर ऊर्जा की प्राप्ति होती है। अगर इस ऊर्जा को कम किया जाए तो दो सौ अरब डालर की जरूरत होगी। खनिज तेल भंडार समाप्त होते जा रहे हैं। कुछ कार्यों में पशु ऊर्जा भी वैज्ञानिक स्थान ले सकती है। यों भी अपने देश में तो कृषि एवं यातायात कार्यों में दीर्घकाल से पशुओं का प्रयोग होता आ रहा है, पशु पालन में वृद्धि द्वारा उस पुरातन प्रचलन को और भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।

अपने यहाँ कार्यरत आठ करोड़ पशुओं का बाजारू मूल्य तो सौ अरब रुपए के बराबर है। प्रत्येक पशु से आधा हार्स पावर ऊर्जा मिलती है तथा कुल पशुओं से चार करोड़ हार्स पावर। यह ऊर्जा तीस हजार मेगावाट विद्युत शक्ति के बराबर है। एक किलोवाट ऊर्जा की प्राप्ति के लिए कम से कम दस हजार रुपए का विनियोग आवश्यक है। तीस हजार मेगावाट विद्युत उत्पादन के लिए ३० खरब रुपए तुरंत खर्च करने होंगे। पशु पालन में वृद्धि से यातायात, कृषि आदि में विशेष सहयोग मिल सकता है। पशु एक टन सामान को दस से लेकर चालीस कि०मी० तक बैलगाड़ियों द्वारा आसानी से ले जा सकते हैं। थोड़ी दूरी के लिए ट्रक, रेल आदि का उपयोग खर्चीला है।

'नेशनल कौंसिल ऑफ एप्लाइड इकॉनामिक्स' तथा 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट' बंगलौर द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष १९७१ से पूरे देश में एक करोड़ २१ लाख पशु गाड़ियाँ उत्तरी भारत, उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान तथा पश्चिमी बंगाल में तथा ८७ लाख पशु गाड़ियाँ दक्षिणी भारत—आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, उड़ीसा और केरल में थी। ग्रामीण यातायात में सत्तर प्रतिशत भाग पशु

गाड़ियों द्वारा संपन्न किया जाता है। कुल मिलाकर पूरे भारत में ये पशु गाड़ियाँ १६५ करोड़ एक लाख दिन कार्य करती है।

देश में प्रचलित पशु गाड़ियों की स्थिति अत्यंत खराब है विशेषकर बैलगाड़ियों की। मात्र बीस प्रतिशत में रबड़ टायर तथा बाल बियरिंग का प्रयोग होता है। प्रचलित पुराने मॉडल से पशुओं के ऊपर बोझ अत्यधिक पड़ता है। उनकी गति भी मंद रहती है। साथ ही ग्रामीण क्षेत्र की सड़कों की स्थिति भी दयनीय है। उसमें सुधार भी अत्यावश्यक है। पशु गाड़ियों तथा कृषि यंत्रों का यदि आधुनिकीकरण कर दिया जाए तो पशु, ट्रकों तथा ट्रैक्टरों से प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं। खेत जोतने में ट्रैक्टर के बढ़ते हुए प्रयोग पर भी नियंत्रण करना चाहिए। आयातित ऊर्जा की बचत में इससे सहयोग मिलेगा। गाँवों की अधिकांश खेती उनके बिना अधिक अच्छी प्रकार हो सकती है।

मोटर कार आदि का उपयोग व्यक्तिगत तौर पर संपन्न व्यक्ति करते हैं। रेल, बस जैसे यातायात साधन लंबी दूरी की यात्राओं के लिए आवश्यक हैं। परंतु वाहनों के व्यक्तिगत उपयोग पर अंकुश लगना चाहिए। विशेषकर उन पेट्रोल, डीजल आदि से चलने वाले वाहनों पर जो कम दूरी के लिए व्यक्तिगत अथवा व्यावसायिक रूप में प्रयोग किए जाते हैं। कम दूरी के लिए साइकिल, रिक्शे का ही उपयोग करना ऊर्जा संकट के इस युग में अधिक उपयुक्त है। रुड़की विश्वविद्यालय के दो इंजीनियरों ने पेडल कार का एक ऐसा नमूना तैयार किया है जिसमें ऊर्जा नहीं खर्च होती। चार सवारियाँ एक साथ बैठ सकती हैं। प्रति घंटा उसकी गति १२ कि०मी० है। रिक्शे से कम बोझ चालक पर इस कार में पड़ता है। पेट्रोलियम के बढ़ते हुए मूल्य तथा ऊर्जा स्रोतों के घटते हुए भंडार को देखते हुए कितने ही देशों के नागरिकों ने उन वाहनों का प्रयोग कम कर दिया है जो पेट्रोल आदि से चलते हैं। चीन और जापान इस क्षेत्र में अग्रणी हैं।

अपने देश में ऊर्जा संकट के सामूहिक हल के लिए एक प्रेरणाप्रद और अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है बुलंदशहर जिले के जैनपुर गाँव वासियों ने। गाँव वालों ने लकड़ी, तेल, कोयला, बिजली के संकट को देखते हुए पूरे गाँव के स्तर पर विचार विमर्श किया और यह निर्णय लिया कि यदि गाँव में पशुओं से होने वाले कुल गोबर की मात्रा का ही भलीभाँति उपयोग कर लिया जाय तो इतने मात्र से प्रत्येक घर की ऊर्जा आवश्यकता की आपूर्ति हो जाएगी। इस योजना को साकार रूप देने के लिए विशेषज्ञों और सरकारी तंत्रों से संपर्क साधा गया। उ०प्र० सरकार द्वारा इस कार्य के लिए पूरा सहयोग और प्रोत्साहन मिला। औद्योगिक मंत्रालय द्वारा तैयार की गई डिजाइन के अनुरूप हर घर के लिए एक अलग गोबर गैस प्लांट पर आठ सौ रुपए का अनुदान मिला।

इस दिशा में वैसे प्रयास तो शासकीय स्तर पर पूरे भारत में हुए हैं, परंतु इस प्रकार की मिशाल जिसमें सभी व्यक्तियों को सरकारी स्तर पर सबके लिए योगदान हो, कम ही देखने में आती है। प्लांट से पैदा होने वाली गैस का उपयोग गाँव वाले भोजन पकाने, प्रकाश करने, थ्रेसर, आटा चक्की, रुई धुनने आदि मशीनों को चलाने में करते हैं। प्रति गोबर गैस प्लांट में चार मवेशियों का गोबर प्रयुक्त होता है। इससे इतनी ऊर्जा पैदा हो जाती है कि दैनंदिन जीवन की ऊर्जा आवश्यकता की पूर्ति के बाद भी छोटे-मोटे उद्योग स्वतंत्र रूप से चलाए जा सकते हैं। गाँव के लोगों को इससे ईंधन, प्रकाश की समस्या से राहत तो मिली है, स्वतंत्र छोटे कुटीर उद्योगों को चलाने के लिए एक सुअवसर भी प्राप्त हुआ है। अगली योजना यह है कि गाँव के बेरोजगार लड़कों को गाँव में ही स्वतंत्र कुटीर उद्योगों के माध्यम से रोजी कमाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। इस तरह उपलब्ध नगण्य समझे जाने वाले साधनों के सुनियोजित एवं सदुपयोग द्वारा ये सामान्य व्यक्ति सामूहिक प्रयासों द्वारा ऊर्जा आवश्यकता की पूर्ति करने में सक्षम हो गए हैं। छोटे कुटीर उद्योगों की योजना से

उनके विकास का महत्त्वपूर्ण मार्ग प्रशस्त हुआ है। बायो गैस शक्ति से संचालित इस गाँव को देखने के लिए एशिया, पूर्वी अफ्रीका, श्रीलंका, बंगला देश सहित २० देशों के वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों ने 'फाओ' अधिवेशन के दौरान इस गाँव का दौरा किया और उन्होंने ग्रामीणों के इस प्रयास के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की।

ऐसा ही एक प्रयोग 'पुणे' के निकट उर्लीकांचन नामक गाँव में किया गया है, भारत एग्रो इंडस्ट्रीज फाउन्डेशन के सहयोग से एक विशालकाय गोबर गैस प्लांट सामूहिक स्तर पर लगाया गया है। यह प्लांट ६०० मवेशियों के गोबर से चलता है। प्रतिदिन १२ हजार घन फुट गैस पैदा होती है और साथ में बढ़िया किस्म के उर्वरक भी। यह खाद गोबर से अन्य विधियों द्वारा बनाई गई खाद की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम होती है। ऊर्लीकांचन में विपुल परिमाण में पैदा होने वाले गैस का उपयोग भोजन पकाने, इंजन चलाने, प्रकाश उत्पन्न करने आदि विभिन्न कार्यों में किया जाता है।

खादी और ग्रामोद्योग कमीशन जैसी संस्थानों के प्रयास से अब तक देश भर में ८० हजार की संख्या में छोटे-छोटे गोबर गैस प्लांट लगाए जा चुके हैं पर देश की ऊर्जा आवश्यकता को देखते हुए यह संख्या अभी बहुत कम है। अपने देश में जितनी पशु संपदा उपलब्ध है मात्र उतने के ही गोबर का सदुपयोग कर लिया जाए तो देश के समक्ष प्रस्तुत ऊर्जा संकट के हल में भारी सहयोग मिल सकता है। अनुमानत: देश में बैल, भैंस और गायों की कुल संख्या लगभग २३ करोड़ है जिनसे प्रतिवर्ष २६ करोड़ ८० लाख टन गोबर पैदा होता है। इस विपुल मात्रा का यदि सदुपयोग हो सके तो ऊर्जा एवं उर्वरक दोनों ही आवश्यकताओं की पूर्ति एक सीमा तक हो सकती है।

एक आँकड़े के अनुसार हमारे देश में कुल गोबर उत्पादन का लगभग साठ प्रतिशत भाग उपले आदि बनाने में देहातों में प्रयुक्त होता है जो जलावन के काम आते हैं। बड़ा भाग तो व्यर्थ चला जाता है। साथ ही उस कीमती खाद से भी वंचित रह जाना पड़ता है जो

गोबर गैस प्लांट से गैस के रूप में अतिरिक्त प्राप्त होती है। देहातों में रहने वालों को इस हानि और लाभ को बताया समझाया जाना आवश्यक है। उपले के रूप में होने वाली गोबर की बर्बादी की रोकथाम हो सके और देश की कुल गोबर संपदा का सदुपयोग हो सके तो चार पशुओं से चलने वाले पाँच करोड़ ७५ लाख घरों में छोटे स्तर के गोबर गैस प्लांट अथवा ६०० पशुओं से चलने वाले तीन लाख ८३ हजार तीन सौ से भी ऊपर बड़े स्तर के गोबर गैस प्लांट्स की स्थापना हो सकती है।

औसतन ८ व्यक्तियों का एक मध्यम परिवार माना जाए तो कुल पाँच करोड़ ७५ हजार छोटे गोबर गैस प्लांटों से देश के ४६ करोड़ नागरिकों की दैनंदिन जीवन की ऊर्जा आवश्यकता की पूर्ति होती रह सकती है। पशु पालन को केवल इसी कारण यदि प्रोत्साहन मिल जाय तो कुल देश की तीन चौथाई आबादी जो गाँवों में निवास करती है, अपनी ऊर्जा समस्या का हल निकाल सकती है।

प्राप्त आँकड़ों के अनुसार आयात में व्यय होने वाली देश की कुल मुद्रा का लगभग ५० प्रतिशत खनिज तेलों को मँगाने में खर्च होता है। पेट्रोलियम के बढ़ते हुए मूल्य के कारण यह राशि प्रतिवर्ष बढ़ती ही जा रही है। सन् १९७१ में पेट्रोलियम पदार्थों के आयात पर कुल खर्च एक अरब ३९ करोड़ रुपए का था जो सन् १९८१ तक एक दशक में बढ़कर ३५ अरब तक जा पहुँचा। अनुमान है कि गोबर गैस प्लांट की सस्ती और सरल योजना को यदि साकार रूप दे दिया जाए तो उपरोक्त राशि में से ५० प्रतिशत की कटौती हो सकती है। यह बचत देश के विकास के अन्याय कार्यों में प्रयुक्त हो सकता है।

ऊर्जा संकट विश्व के गंभीरतम संकटों में से एक है। दैनिक जीवन के छोटे कार्यों से लेकर वाहनों उद्योगों आदि बड़े प्रयोजनों में ईंधन की बड़ी मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति में विश्व के मूर्धन्य अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों एवं विचारकों

ने पशुओं के गोबर से प्राप्त होने वाली ऊर्जा को अत्यंत लाभकारी और निरापद माना है। निरापद इन अर्थों में कि कोयला, तेल, लकड़ी आदि खर्चीले हैं और प्रदूषण से युक्त भी। नाभिकीय ऊर्जा अपने साथ विकिरण आदि के गंभीर संकट लिए हुए है और साथ ही अत्यंत मँहगी भी है। सौर ऊर्जा की तकनीक अभी विकसित अवस्था में है। इन परिस्थितियों में ऊर्जा संकट के हल का सबसे सुगम मार्ग है—जैव ऊर्जा का संग्रह और सदुपयोग। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिए यह प्रयोग एक वरदान सिद्ध हो सकता है।

चीन ने इस दिशा में उत्साहवर्धक कदम उठाया है। लगभग पंद्रह लाख की संख्या में वहाँ गैस संयंत्र लगाए जा चुके हैं। सामूहिक एवं सरकारी दोनों ही स्तरों पर प्रयास चल रहे हैं। अमेरिका, बाँगला देश, श्रीलंका, डेनमार्क, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भी गोबर गैस सयंत्र स्थापित हो रहे हैं। अपने देश के विचारकों ने भी देश के समक्ष प्रस्तुत ऊर्जा संकट के हल में गोबर गैस ऊर्जा को एक महत्त्वपूर्ण घटक माना है।

◆

कुटीर उद्योगों का विकास हो, अर्थतंत्र सशक्त बने

किसी भी राष्ट्र का सर्वांगीण विकास उसकी सशक्त अर्थ व्यवस्था पर निर्भर करता है। दूरदर्शिता पूर्ण नीति से राजनेता व अर्थशास्त्री इस प्रकार पूंजी निवेश का निर्धारण करते हैं कि बेकारी और मुद्रा स्फीति पनपने न पाए तथा उपलब्ध संसाधनों का पूर्णरूपेण सदुपयोग संभव हो सके। जापान जर्मनी तथा पश्चिमी यूरोप के अन्यान्य राष्ट्र १९३० से १९४५ तक एक आपातकालीन अर्थ संकट से गुजरे परंतु द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद उन्होंने इस प्रकार अपनी नीति का सुनियोजन किया कि वे २० वर्षों के अनवरत श्रम के बलबूते अपना सुदृढ़ आधार विनिर्मित कर सके।

भारत की परिस्थितियाँ कुछ अलग प्रकार की हैं। हमारा देश अविकसित विकासशील शब्दों की संधि रेखा पर रखा जा सकता है। एक विचित्र प्रकार का विरोधाभास हमारे यहाँ देखने में आता है। जहाँ शहरी क्षेत्र का परिसर व जनसंख्या गत ३४ वर्षों में बढ़ी है, वहाँ ग्रामीण क्षेत्र में विशाल पैमाने पर जनसंख्या बेरोजगारी, दरिद्रता व आय संबंधी विषमता में वृद्धि हुई है। इसे विडंबना ही कहेंगे कि शहरी क्षेत्र के आँकड़े व उनकी समस्याओं के समाधान तो सतत प्रस्तुत किए जाते रहे, पर ग्रामीण क्षेत्र, जहाँ लगभग ७७.३५ प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है, उपेक्षित ही पड़ा रहा। अर्थशास्त्री व सांख्यिकी वेत्ता हर तथ्य को पाश्चात्य आइने से देखने के आदी होने के कारण कभी राष्ट्र की समग्र अर्थ व्यवस्था पर गंभीरता पूर्वक विवेचन नहीं कर पाए, नहीं दरिद्रता का समाधान ही ढूँढ़े पाने में सफल हो सके।

नवीतम आँकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या ग्रामीण परिसर में ४८ करोड़ १२ लाख, कस्बों व छोटे शहरों में ११ करोड़ ८० लाख तथा शहरी क्षेत्र में ८ करोड़ ४६ लाख है। इस ग्रामीण जनता में से ७ करोड़ किसान परिवार और ५० लाख काश्तकार बेरोजगारी की चपेट में है। ७३ प्रतिशत ग्रामीणों की आर्थिक आय मात्र ४३ रुपए प्रतिमाह है। अत्यधिक मात्रा में श्रम उपलब्ध होते हुए भी इस शक्ति का—उनके कला कौशल का कोई उपयोग नहीं हो पाता। स्वयं किसान जिनकी जीविका का मुख्य साधन खेती ही है, देश के अधिकांश क्षेत्रों में साल के ६ माह बेकार रहते हैं। दूसरी ओर प्रतिवर्ष नौकरी खोजने वाले शिक्षित वर्ग में सतत वृद्धि होती चली जाती है। शहरी क्षेत्र में बढ़ती शिक्षित बेरोजगारों की इस भीड़ में अशिक्षित बेकार ग्रामीणों की संख्या भी जुड़ती चली जाती है जो काम न मिलने पर भूखों मरने की नौबत आने के कारण पलायन कर शहरों की गंदी बस्तियों में पहुँच जाते हैं।

ऐसा नहीं कि सरकार ने इस विषय में कुछ नहीं किया, किया तो पर वे प्रयास समुद्र में बूँद मात्र बनकर रह गए। छठी पंचवर्षीय येजना के तहत १२६ करोड़ रुपए की राशि की व्यवस्था इनकी बेरोजगारी के समाधान हेतु की गई, परंतु मात्र ३० से ५० लाख तक ग्रामीण बेरोजगारों के लिए अस्थाई रोजगार की व्यवस्था ही हो पाई। इन सब व्यवस्थाओं तथा सभी का ध्यान ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के सुनियोजन पर केंद्रित होने के बावजूद अभी ७० प्रतिशत ग्रामीण ऐसे हैं जो गरीबी की रेखा के नीचे जीवन बसर करते हैं, उन्हें धनी खेतीहरों के मजूर के रूप में अथक श्रम व बदले में थोड़ी सी पूंजी से निर्वाह करना होता है।

ग्रामीण क्षेत्र में कार्य कौशल का अभाव नहीं है, अभाव है तो दिशा का। देश में खेती की महत्ता व बेरोजगारी की संभावनाओं को दृष्टिगत रखकर ही गाँधीजी ने गौ-विकास और कुटीर उद्योगों के द्वारा आर्थिक विकास पर बल दिया था। कुटीर उद्योग से सामान्यतया तात्पर्य उन उद्योगों से होता है जो व्यक्तिगत आधार पर घरों में

परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाए जाते हैं। इसमें न अधिक पूंजी की आवश्यकता है न साजो सामान की, जरूरत पड़ती है तो मात्र कच्चे माल तथा कुशलता की। इन दोनों की ग्रामीण क्षेत्र में कोई कमी नहीं। समुचित मार्ग दर्शन के अभाव में ही इस कौशल-प्रतिभा का उपयोग नहीं हो पाता। कुटीर उद्योग व लघु उद्योग में थोड़ा अंतर होता है। लघु उद्योग का सूक्ष्म आधार है यांत्रिक विधियाँ तथा कुटीर उद्योग का हस्त विधियाँ। कुटीर से तात्पर्य है—मुख्यरूपेण ग्रामोद्योग। इन उद्योगों में दैनंदिन जरूरत की पूर्ति की वस्तुएँ गाँवों में ही उत्पादित की जाती हैं। इनका एक ही लक्ष्य होता हैं—गाँवों को आत्म निर्भर बनाना, नगरों की ओर ग्रामवासियों का पलायन रोकना।

लघु कुटीर उद्योगों के रूप में विकेंद्रित अर्थ व्यवस्था के अतिरिक्त अब भारत जैसे ग्राम प्रधान राष्ट्र के लिए कोई विकल्प बचा नहीं है। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों में रोजगार अधिक उपलब्ध होते हैं। प्रति व्यक्ति आय वृद्धि, सृजन सामर्थ्य के विकास व समग्र सुख शांति के लिए कुटीर उद्योग ही एकमात्र मार्ग है।

हाथकरघा, रंगाई-छपाई, दुग्ध उत्पादन, अगरबत्ती, मूर्ति तथा काष्ठ-कला, शहद, गुड़ और खंडसारी, दियासलाई, साबुन, मोमबत्ती, गलीचे, कालीन, कपड़ा उद्योग—होजियारी आदि ऐसे उद्योग हैं जिन्हें सहकारी स्तर पर अथवा पारिवारिक स्तर पर बड़ी सफलता से चलाया जा सकता है। राजस्थान एवं केरल सरकार ने अपने हस्त कला उद्योग से देश में ही नहीं विदेश में भी काफी नाम कमाया है। इन्हीं को यदि समुचित प्रोत्साहन दिया जा सके तो अर्थ व्यवस्था को एक सशक्त सुदृढ़ आधार दिया जा सकता है।

चीन, वियतनाम, तंजानियाँ आदि देशों ने गांधीवादी ढंग के आर्थिक सुनियोजन का पूरा लाभ उठाया है। उन्होंने अपनी सफलता से सारे संसार को दिखा दिया है कि कृषि प्रधान राष्ट्रों के लिए, विशेषकर विकासशील देशों की प्रारंभिक शैशवास्था में गाँधीवादी

प्रयोग कितने सफल हैं। प्रख्यात पाश्चात्य अर्थ शास्त्री, प्रो० गुन्नार मिर्डल, ई० एफ० शूमाकर, प्रो० गाल ब्रेथ, चेस्टर वोल्स एवं प्रो० हक्सले ने ग्राम विकास हेतु तथा लोकतंत्र प्रधान राष्ट्र व्यवस्था में आर्थिक विकेंद्रीकरण हेतु कुटीर उद्योगों के महत्त्व को स्वीकारा है। श्रम की प्रचुरता तथा नियोजन हेतु पूंजी की अपर्याप्तता की स्थिति में कुटीर उद्योग ही एकमात्र समाधान देते हैं। इन्हीं से बेरोजगारी मिटाने व असंख्यों ग्रामीणों की औसत आय बढ़ाने का शाश्वत आधार बनता है।

गाँधीजी यंत्र के नहीं, यंत्रवाद के घोर विरोधी थे। वे कहते थे—"मैं यंत्र का यंत्र के रूप में विरोधी नहीं हूँ। यह जानते हुए कि मनुष्य शरीर भी एक जटिल किंतु कोमल यंत्र के सिवा कुछ नहीं है, ऐसा विरोध मैं कैसे कर सकता हूँ। खादी उद्योग, ग्रामोद्योग को बढ़ावा देकर मैं उस उन्माद को मिटाना चाहता हूँ जो यंत्रों के प्रति उत्पन्न हो गया है। श्रम बचाने की खातिर यंत्रों को जो प्रोत्साहन दिया जाता है उससे आगे चलकर लाखों मनुष्य बेकार होंगे और भूखों मरने के लिए असहाय छोड़ दिए जायेंगे।" उनकी भविष्यवाणी कितनी सही सिद्ध हुई, यह हम आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

वस्तुत: बड़े-बड़े उद्योग हमारा शोषण तो करते ही हैं, हमें पराधीन भी बना डालते हैं। जब तक यह किसी वस्तु के लिए दूसरों पर निर्भर रहेंगे, तब तक अपने को स्वतंत्र नहीं कह सकते। अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के लिए तो हमें आत्म निर्भर बन ही जाना चाहिए। हस्त कौशल को प्रोत्साहन देने के लिए इससे अच्छा और कोई तरीका नहीं हो सकता कि कच्चे माल का स्थानीय स्तर पर ही उपयोग कर लिया जाए। व्यक्तिगत साहस के बाहर जो वस्तुएँ हों उन्हें तो यंत्रों से ही बनाया जाना है पर उन्हें पूंजीपतियों द्वारा नहीं सहकारी स्तर पर समाज द्वारा चलाया जाय। मानव कल्याण की दृष्टि से उनका उपयोग हो न कि स्वार्थ की भावना से। जो भी वस्तु घरेलू स्तर पर उत्पादित की जा सके, उसे प्रोत्साहन भी दिया जाए व आर्थिक सहायता भी।

इन सबके लिए सरकार का मुँह ताकते रहना व्यर्थ होगा। अच्छा हो स्थानीय स्तर पर उपयुक्त हस्त कौशल तलाश कर इन उद्योगों को लघु पूँजी से ही सहकारी स्तर पर आरंभ कर दिया जाए। देश के समग्र स्तर को ऊँचा उठने के लिए ग्रामीणों का स्तर उठना बहुत अनिवार्य है, इस तथ्य को हमेशा याद रखा जाए। क्योंकि नगरों के औद्योगिकरण से उत्पादन बढ़ोत्तरी का एक लाभ हुआ है किंतु साथ ही अनेकों प्रकार की समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। प्रदूषण से उत्पन्न विषाक्तता से शहरों में रहने वालों के स्वास्थ्य में भारी गिरावट आई है तथा अनेकों प्रकार के नए रोग उठ खड़े हुए हैं। समस्याओं में एक कड़ी और जुड़ गई है। देश की आबादी इन दिनों नगरों में केंद्रित होती जा रही है। इस सदी में विभिन्न शहरों में जनसंख्या में हुई वृद्धि आश्चर्यजनक है। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार वर्ष १९२० में भारत के नगरों की आबादी की स्थिति इस प्रकार थी। नगरों में आबादी २ करोड़ ५० लाख जो कुल आबादी का ११ प्रतिशत था। १९४० में कुल शहरी जनसंख्या लगभग ६ करोड़ थी। १९६० तक यह संख्या ८ करोड़ के निकट जा पहुँची। पिछले दो दशकों में शहरी आबादी में द्रुतगति से वृद्धि हुई है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार नगरों में वर्तमान समय में लगभग १४ करोड़ ५० लाख अर्थात कुल २२ प्रतिशत व्यक्ति रहते हैं।

देश में कुल २६४३ नगर हैं जिनमें १४२ नगरों की आबादी एक लाख से ऊपर है। ९ महानगरों की १० लाख से ऊपर है। १९७१ में इन महानगरों की आबादी इस प्रकार थी—कलकत्ता ७० लाख ३२ हजार, बंबई ५९ लाख ७० हजार ६ सौ, दिल्ली ३६ लाख ४७ हजार दो सौ, मद्रास ३१ लाख ७० हजार, हैदराबाद १७ लाख ९७ हजार, अहमदाबाद १७ लाख ४० हजार, बंगलौर १६ लाख ५३ हजार ७ सौ, कानपुर १२ लाख ७५ हजार, पूणे ११ लाख ५३ हजार। कुल शहरी जनसंख्या की एक चौथाई अर्थात लगभग ३ करोड़ २५ लाख व्यक्ति ९ महानगरों में निवास करते हैं। अनुमानतः १९८० के अंत तक वह संख्या ४ करोड़ तक जा पहुँची है अर्थात कुल देश

की आबादी का लगभग १६वां भाग मात्र ९ महानगरों में रहता है। एक लाख से ऊपर १५२ प्रथम श्रेणी के नगरों में लगभग ७ करोड़ ५० लाख व्यक्ति रहते हैं।

प्रतिवर्ष इन नगरों में एक बड़ी संख्या देहातों से रोजगार की खोज में अथवा नगरीय आकर्षणों से प्रेरित होकर वहीं बस जाने के निमित्त आये व्यक्तियों की जुड़ जाती है। अनुमानत: हर वर्ष ५० लाख मजदूर रोजगार के लिए गाँवों से शहरों की ओर भागते हैं। शिक्षितों की संख्या इसके अतिरिक्त है। एक अनुमान के अनुसार उनकी संख्या भी २० लाख के लगभग होगी। जिसमें हर स्तर के शिक्षित हैं। हाईस्कूल, इंटर, स्नातक, स्नातकोत्तर सभी तरह के शिक्षित सम्मिलित हैं। फलस्वरूप शहरों में देश की आबादी केंद्रित होती चली जा रही है। जनसंख्या का केंद्रीकरण देश के समक्ष एक भयंकर समस्या बनता जा रहा है। आवास, रोजगार, खाद्यान्न, ऊर्जा की कमी होने से लेकर सीमित स्थान में अधिक आबादी के केंद्रित हो जाने से गंदगी से उत्पन्न अनेकानेक संकटों का सामना करना पड़ रहा है। प्रकाश, वायु एवं जल जैसे प्राकृतिक साधन कम पड़ रहे हैं तथा जो उपलब्ध हैं उनमें भी विषाक्तता घुलती जा रही है।

आबादी के नगरों के केंद्रीकरण से दूसरे देशों को भी अनेकों प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार शंघाई, स्वीडन की आबादी एक करोड़ ८ लाख से भी ऊपर है, पीकिंग (चीन) की ७६ लाख। मैक्सिको की आबादी ९० लाख से भी ऊपर है। टोक्यो में ८५ लाख ४३ हजार के लगभग व्यक्ति निवास करते हैं तथा न्यूयार्क में ७४ लाख ८२ हजार। साओपोलो (ब्राजील) की जनसंख्या ७१ लाख ९९ हजार तथा लंदन की ७० लाख २८ हजार के लगभग है। मास्को की ६९ लाख ४२ हजार तथा सियोल (द० कोरिया) की ६८ लाख ७९ हजार आबादी है।

इन नगरों में आवास, स्वच्छ वायु, प्रकाश तथा पानी की समस्या गंभीर बनती जा रही है। प्रदूषण ने अनेकों प्रकार के

शारीरिक एवं मानसिक रोगों को जन्म दिया है। फलस्वरूप जनसंख्या को खाली क्षेत्रों में—ग्रामीण इलाकों में बखेरने की योजना पर गम्भीरता से विचार किया जा रहा है। अपने यहाँ भी इस एक गम्भीर बनती जा रही समस्या के समाधान के लिए विचार किया जा रहा है। नगरों की औसत जनसंख्या वृद्धि गाँवों की तुलना में अत्यधिक है। इसके आरंभ में कुल ११ प्रतिशत व्यक्ति नगरों में रहते थे जबकि वर्तमान में यह २२ प्रतिशत तक जा पहुँचा है अर्थात कुल देश की जनसंख्या का एक तिहाई नगरों में केंद्रित है। जनसंख्या का नगरों में अधिकाधिक एकत्रित हो जाने से अनेकों तरह की समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। आवास, शुद्ध पानी, प्रकाश एवं वायु की समस्याएँ तो सर्वविदित हैं। घनी आबादी से शारीरिक एवं मानसिक रोगों को बढ़ावा मिलने जैसे वैज्ञानिक तथा संघर्षों, मन-मुटावों एवं अपराधों की अभिवृद्धि के मनोवैज्ञानिक तथ्य अब प्रकाशन में आ रहे हैं। जो प्रकारांतर से आबादी के नगरों में बढ़ते जाने के ही दुष्परिणाम हैं।

आबादी के नगरों, महानगरों में बढ़ते जाने के अनेकों कारण हैं। एक तो सर्वाधिक औद्योगिक प्रतिष्ठान नगरों में अवस्थित हैं। अतएव रोजगार के लिए गाँवों से पलायन करने वाले व्यक्तियों को सरल उपाय यही दिखाई देता है कि नगरों में जाकर ही आजीविका के उपाय ढूँढ़े जाएँ। सर्वाधिक संख्या गाँवों से शहरों की ओर दौड़ने वालों में से ऐसे ही व्यक्तियों की होती है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनके समक्ष आजीविका की समस्या नहीं है और संपन्न हैं, किंतु शहरी आकर्षण एवं चमक-दमक से आकर्षित होकर वहीं जाकर बस जाते हैं। प्रतिवर्ष ऐसे व्यक्तियों की संख्या भी नगरों में जुड़ जाती है जो अपनी संपन्नता के बलबूते स्वतंत्र व्यवसाय अर्थात उद्योग स्थापित कर लेते हैं तथा वही स्थायी रूप से निवास कर जाते हैं। जो पहले से स्थायी रूप में बसे हैं उनके परिवारों में बच्चे के जन्मने से एक बड़ी संख्या स्वाभाविक रूप से अतिरिक्त जुड़ती जाती है। सीमित स्थानों में अत्यधिक व्यक्तियों के एकत्रित हो जाने

से अनेकों प्रकार के संकट उठ खड़े हुए हैं। आवास के लिए बहुमंजिली इमारतों की संख्या बढ़ती जा रही है जिनमें प्रकाश एवं वायु के समुचित प्रवेश न होने से वे स्वास्थ्य एवं आरोग्य की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हो रही हैं।

महानगरों की स्थिति तो और भी भयावह है। विश्व के सर्वाधिक जनसंख्या वाले नगरों में बंबई का दसवां स्थान है जो कुल ६०३ कि०मी० में बसा हुआ है तथा कुल आबादी लगभग ६० लाख है। अनुमानत: बंबई में पाँच लाख व्यक्तियों के पास मकान नाम की रहने वाली कोई चीज नहीं है जो फुटपाथों पर किसी तरह रात्रि व्यतीत करते हैं। कलकत्ता एवं दिल्ली की भी लगभग यही स्थिति है जहाँ कि लाखों व्यक्ति फुटपाथ पर ही रात्रि गुजारते हैं। इनमें निम्न वर्गीय रोजगार प्राप्त भी हैं और बिना रोजगार प्राप्त तथा भिखमंगे स्तर के व्यक्ति भी।

- स्थिति और भी भयावह न हो जाए इसके पूर्व ही कारगर और विवेक पूर्ण कदम उठाने होंगे। देहातों से रोजगार के लिए नगरों की ओर पलायन रोकने एवं वर्तमान शहरी आबादी को खाली देहातों में बखेरने के लिए सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों ही स्तर पर प्रयास करने होंगे। शहरी क्षेत्रों में स्थापित होने वाले नये औद्योगिक प्रतिष्ठानों पर कड़ाई से प्रतिबंध लगाना चाहिए, उन्हें देहाती क्षेत्रों में लगाए जाने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। जो संपन्न एवं समर्थ हैं उन्हें भी अपनी पूँजी देहातों में औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना में लगानी चाहिए। खाली ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी जनसंख्या को बखेरना एवं उन्हें आजीविका के साधन उपलब्ध करा देने से प्रस्तुत इस कठिनाई का हल एक सीमा तक निकल सकता है। जिसके लिए अविलम्ब कदम सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों ही स्तरों पर उठाया जाना आवश्यक है। इससे ग्रामीण विकास का मार्ग प्रशस्त होगा और साथ ही प्रस्तुत समस्या का हल भी निकलेगा।

◆

पशुपालन : भारत के लिए एक अनिवार्य एवं सुगम कुटीर उद्योग

आर्यकालीन महामानवों ने 'गौ' को माता कहकर पुकारा व कहा है "गाय सर्वश्रेष्ठ, पूज्यनीय एवं संसार का सबसे उत्तम प्राणी है।" सामान्यतया भारतीय समाज में गायों को सर्वाधिक मान्यता देने का कारण यही प्रतीत होता है कि उससे कृषि कार्य के लिए आवश्यक बछड़े, बैल तथा उच्च स्तर का खाद आदि प्राप्त हो जाता है परंतु यही कारण पर्याप्त नहीं है। एक अन्य कारण यह भी कि उसके दूध में जो विशेषताएँ पाई जातीं हैं, वे इतनी अद्‌भुत हैं कि अन्य किसी भी पशु के दूध में नहीं पाई जातीं। माँ के दूध का एकमात्र विकल्प गाय का दूध है। नवजात शिशु जो किसी कारणवश माँ का दूध नहीं पी पाते उनके लिए गाय का दूध सर्वश्रेष्ठ है।

प्रसिद्ध जीव विज्ञानी डॉ०एस०ए० पीपल्स ने अपने दीर्घकालीन शोध, प्रयोगों और परीक्षणों के बाद यह पाया है कि मनुष्य की प्रकृति के लिए गाय का दूध ही सबसे निरापद और पौष्टिक संपूर्ण आहार है, जिसमें सभी जीवनदायी तत्त्व प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं यदि और कोई आहार नहीं लिया जाए तथा केवल गाय के दूध का ही सेवन किया जाए तो व्यक्ति न केवल स्वस्थ, पुष्ट और सशक्त जीवन व्यतीत कर सकता है, वरन उसका स्वभाव भी सात्त्विक मानवोचित गुणों से ओत-प्रोत हो सकता है।

डॉ० पीपल्स ने दुग्ध पर किए गए परीक्षणों में यह भी पाया कि यदि गायें कोई विषैला पदार्थ खा जाती हैं तो भी उसका प्रभाव उसके दूध में नहीं आता। उसके शरीर में सामान्य विषों को पचा

लेने की अद्‌भुत क्षमता है। अन्य स्तनधारी जीव यदि विषाक्त आहार ग्रहण करते हैं तो उनके शरीर में यह विष जमा होता रहता है और मृत्यु का कारण बनता है। अधिक मात्रा में खा लिए जाने पर तो एक ही बार में मृत्यु हो जाती है। न्यूयार्क की विज्ञान ऐकेडमी की एक बैठक में अन्य वैज्ञानिकों ने भी डॉ० पीपल्स के इस मत की पुष्टि की है।

आम और पर यह समझा जाता है कि जो दूध जितना चिकना होता है उतना ही उत्कृष्ट होता है। वस्तुत: दूध का महत्त्व चिकनाई से नहीं, उसमें पाए जाने वाले खनिजों और लवणों से है। गौ-दुग्ध में ये खनिज, लवण, विटामिन तथा अन्य पोषक तत्त्व अन्य पशुओं के दूध की तुलना में अधिक व पूर्णत: संतुलित होते हैं। इसी कारण उसे प्रधानता मिली है और उसका पालन धार्मिक तथा आर्थिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण माना गया है।

भैंस के दूध में पाया जाने वाला प्रोटीन बड़ी कठिनाई से पचता है, जबकि गाय के दूध में पाया जाने वाला प्रोटीन सुपाच्य होता है। उसमें विटामिन ए०, बी०, और डी० की मात्रा भी अधिक रहती है। शरीर में सतत उत्पन्न होते रहने वाले टॉक्सिस और रोग जन्य विषों का निवारण करने वाले एंजाइम्स जो गाय के दूध में होते हैं, वे भैंस के दूध में नही पाए जाते।

पोषण और स्वास्थ्य की दृष्टि से अद्वितीय गौ दुग्ध के कारण गाय की महत्ता असंग्धि है ही, आर्थिक दृष्टि से भी वह कम उपयोगी नहीं है। यदि गौ-वंश की रक्षा नहीं की जा सकी तो बैलों के बिना खेती हमारे कृषि प्रधान देश में किस प्रकार होगी? बैलों को हटाकर ट्रैक्टरों के सहारे भारत का गरीब किसान अपनी छोटी जोतों की कृषि कैसे कर सकेगा? उन्हें जुटाने के लिए धन कहाँ से लाएगा? फिर छोटे देहातों में उन्हें चलाने वाले ड्राइवर और सुधारने वाले कारीगर कहाँ से उपलब्ध होंगे? फिर इन ट्रैक्टरों के लिए आज की परिस्थितियों में डीजल कहाँ से आएगा? वे ट्रैक्टर गोबर

तो देंगे नहीं फिर खाद की आवश्यकता कैसे पूरी होगी? इन सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि कृषि, अर्थ व्यवस्था, स्वास्थ्य रक्षा एवं धार्मिक, हर दृष्टि से स्वस्थ गायों को संरक्षण मिलना ही चाहिए।

भारत मूलत: कृषि प्रधान देश है। यहाँ की जनता के लिए सर्वश्रेष्ठ सहकारी कुटीर उद्योग कोई हो सकता तो है वह है पशु पालन। भारत की ८० प्रतिशत जनता देहातों में रहती है तथा उसके निर्वाह का साधन खेती है। कुल राष्ट्रीय आय का ५० प्रतिशत कृषि से प्राप्त होता है। देश की प्रगति और समृद्धि में सबसे बड़ा योगदान कृषि का है। अपने देश का यह सुदृढ़ आधार लड़खड़ा जाए तो विकास की अन्यान्य योजनाएँ धरी रह जाएँगी और प्रगति का अभीष्ट लक्ष्य पूरा होना तो दूर रहा, भूखों मरने की नौबत आ जाएगी।

मनुष्य की प्रगति में पशु जगत ने भी हमजोली की भाँति सहयोग दिया है। कृषि और खाद्यान्न उत्पादन में सबसे अधिक सेवा मवेशियों ने की है। उनके श्रम एवं प्राप्त होने वाले अनेकों प्रकार के अनुदानों से मनुष्य जाति लंबे समय से लाभ उठाती आ रही है। कभी इस देश में पशु पालन के प्रति सर्वाधिक उत्साह था। आर्थिक ही नहीं धार्मिक दृष्टि से भी पशुओं की सेवा एवं पशु पालन को पुनीत कर्त्तव्य के रूप में मान्यता मिली थी। गाय की पवित्रता एवं उससे प्राप्त होने वाले अनेकों प्रकार के भौतिक लाभों के कारण भारतीय संस्कृति में उसे माँ के समकक्ष रखा और 'गौ माता' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। समाज के मूर्धन्य एवं प्रभावशाली वर्ग के बीच गौ-पालन पशु पालन के प्रति कभी प्रतिस्पर्धा चला करती थी तथा इसे प्रगति एवं समृद्धि का परिपूरक माना जाता था। फलस्वरूप उनसे श्रम, खाद, दूध, घी, जैसे प्रगति में सहायक साधन मिलते थे। किंतु प्रगतिशीलता के नाम पर अपने यहाँ इस उपयोगी व्यवसाय की उपेक्षा हो रही है। दूसरे देशों का अंधानुकरण करने से हम समृद्धि के इस महत्त्वपूर्ण स्रोत को छोड़ते जा रहे हैं।

अपने यहाँ की स्थिति दूसरे देशों से भिन्न है। प्रत्यक्ष रूप से ८० प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है। जापान में कृषि पर निर्भरता २७ प्रतिशत, फ्रांस में २० प्रतिशत, आस्ट्रेलिया में ११ प्रतिशत, कनाडा में ११ प्रतिशत, संयुक्त राज्य अमेरिका में ७ प्रतिशत तथा ग्रेट ब्रिटेन में ५ प्रतिशत है। ये आँकड़े बताते हैं कि राष्ट्रीय आय का सबसे बड़ा स्रोत भारत में कृषि है जबकि दूसरे देशों में आय का बड़ा भाग उद्योगों से प्राप्त होता है। अस्तु उनका अंधानुकरण अपने यहाँ हर दृष्टि से हानिकारक है। समृद्धि में सदा से सहयोग देते आ रहे पशुओं के पालन को प्रश्रय देने से ही प्रगति संभव है।

नेशनल डेरी इंस्टीट्यूट करनाल की रिपोर्ट के अनुसार देश में प्रतिवर्ष २ करोड़ ७० लाख टन दूध का उत्पादन हो रहा है जबकि आवश्यकता ३ करोड़ ५० लाख टन की है। पोषण के लिए अनिवार्य मात्रा की पूर्ति इस कमी को पूरा करने से ही संभव है। इस तरह देश के प्रत्येक व्यक्ति को औसतन अत्यल्प दूध उपलब्ध है जबकि संतुलित आहार में २५० ग्राम दूध आवश्यक बताया गया है। यह कमी गौ पालन से ही पूरी हो सकेगी, पशु पालन के प्रति उत्साह उमड़ पड़े तो अनेकों प्रकार की आर्थिक समस्याओं का हल निकल सकना संभव है। बेरोजगारी, स्वास्थ्य, कृषि की समस्याओं के हल से प्रगति की दिशा में द्रुतगति से बढ़ सकना संभव है।

◆

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।